ॐ

मुण्डकोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

निवेदन
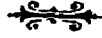
मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेदके मन्त्रभागके अन्तर्गत है। इसमें तीन मुण्डक हैं और एक-एक मुण्डकके दो-दो खण्ड हैं। ग्रन्थके आरम्भमें ग्रन्थोक्त विद्याकी आचार्यपरम्परा दी गयी है। वहाँ बतलाया है कि यह विद्या ब्रह्माजीसे अथर्वाको प्राप्त हुई और अथर्वासे क्रमशः अङ्गी और भारद्वाजके द्वारा अङ्गिराको प्राप्त हुई। उन अङ्गिरा मुनिके पास महागृहस्थ शौनकने विधिवत् आकर पूछा कि 'भगवन्! ऐसी कौन-सी वस्तु है जिस एकके जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है?' महर्षि शौनकका यह प्रश्न प्राणिमात्रके लिये बड़ा कुतूहलजनक है, क्योंकि सभी जीव अधिक-से-अधिक वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।

इसके उत्तरमें महर्षि अङ्गिराने परा और अपरा नामक दो विद्याओं-का निरूपण किया है। जिसके द्वारा ऐहिक और आमुष्मिक अनात्म पदार्थोंका ज्ञान होता है उसे अपरा विद्या कहा है, तथा जिससे अखण्ड, अविनाशी एवं निष्प्रपञ्च परमार्थतत्त्वका बोध होता है उसे परा विद्या कहा गया है। सारा संसार अपरा विद्याका विषय है तथा संसारी पुरुषोंकी प्रवृत्ति भी उसीकी ओर है। उसीके द्वारा ऐसे किसी एक ही अखण्ड तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता जो सम्पूर्ण ज्ञानोंका अधिष्ठान हो, क्योंकि उसके विषयभूत जितने पदार्थ हैं वे सब-के-सब परिच्छिन्न ही हैं। अपरा विद्या वस्तुतः अविद्या ही है; व्यवहारमें उपयोगी होनेके कारण ही उसे विद्या कहा जाता है। अखण्ड और अव्यय तत्त्वके जिज्ञासुके लिये वह त्याज्य ही है। इसीलिये आचार्य अङ्गिराने यहाँ उसका उल्लेख किया है।

इस प्रकार विद्याके दो भेद कर फिर सम्पूर्ण ग्रन्थमें उन्हींका सविस्तर वर्णन किया गया है। ग्रन्थका पूर्वार्ध प्रधानतया अपरा विद्याका

निरूपण करता है और उत्तरार्धमें मुख्यतया परा विद्या और उसकी प्राप्तिके साधनोंका विवेचन है। इस उपनिषद्की वर्णनशैली बड़ी ही उदात्त एवं हृदयहारिणी है, जिससे स्वभावतः ही जिज्ञासुओंका हृदय इसकी ओर आकर्षित हो जाता है।

उपनिषदोंका जो प्रचलित क्रम है उसके अनुसार इसका अध्ययन प्रश्नोपनिषद्के पश्चात् किया जाता है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तकके पृष्ठ ९४ पर भगवान् शङ्कराचार्य लिखते हैं—'वक्ष्यति च 'न येषु जिह्ममनृतं न माया च' इति' अर्थात् 'जैसा कि आगे (प्रश्नोपनिषद्में) 'जिन पुरुषोंमें अकुटिलता, अनृत और माया नहीं है' इत्यादि वाक्यद्वारा कहेंगे भी।' इस प्रकार प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नके अन्तिम मन्त्रका भविष्यकालिक उल्लेख करके आचार्य सूचित करते हैं कि पहले मुण्डकका अध्ययन करना चाहिये और उसके पश्चात् प्रश्नका। प्रश्नोपनिषद्का भाष्य आरम्भ करते हुए तो उन्होंने इसका स्पष्टतया उल्लेख किया है। अतः शाङ्करसम्प्रदायके वेदान्तविद्यार्थियोंको उपनिषद्भाष्यका इसी क्रमसे अध्ययन करना चाहिये। अस्तु, भगवान्से प्रार्थना है कि इस ग्रन्थके अनुशीलनद्वारा हमें ऐसी योग्यता प्रदान करें जिससे हम उनके सर्वाधिष्ठानभूत परात्पर स्वरूपका रहस्य हृदयङ्गम कर सकें।

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

अङ्गिरस और शौनकका संवाद

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

मुण्डकोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

भावाभावपदातीतं भावाभावात्मकं च यत् ।
तद् वन्दे भावनातीतं स्वात्मभूतं परं महः ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हे देवगण ! हम कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें; यज्ञकर्ममें समर्थ होकर नेत्रोंसे शुभ दर्शन करें; अपने स्थिर अङ्ग और शरीरोंसे स्तुति करनेवाले हमलोग देवताओंके लिये हितकर आयुका भोग करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करे, परम ज्ञानवान् [अथवा परम धनवान्] पूषा हमारा कल्याण करे, अरिष्टोंके [नाशके] लिये चक्ररूप गरुड हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

सम्बन्धभाष्यम्

उपक्रमः

ॐ ब्रह्मा देवानामित्याद्याथर्वणोपनिषत्। अस्याश्च विद्यासम्प्रदायकर्तृपारम्पर्यलक्षणसम्बन्धम् आदावेवाह स्वयमेव स्तुत्यर्थम्। एवं हि महद्भिः परमपुरुषार्थसाधनत्वेन गुरुणायासेन लब्धा विद्येति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय विद्यां महीकरोति। स्तुत्या प्ररोचितायां हि विद्यायां सादराः प्रवर्तेरन्निति।

'ॐ ब्रह्मा देवानाम्' इत्यादि [वाक्यसे आरम्भ होनेवाली] उपनिषद् अथर्ववेदकी है। श्रुति इसकी स्तुतिके लिये इसके विद्या-सम्प्रदायके कर्ताओंकी परम्परारूप सम्बन्धका सबसे पहले स्वयं ही वर्णन करती है। इस प्रकार यह दिखलाकर कि 'इस विद्याको परमपुरुषार्थके साधनरूपसे महापुरुषोंने अत्यन्त परिश्रमसे प्राप्त किया था' श्रुति श्रोताओंकी बुद्धिमें इसके लिये रुचि उत्पन्न करनेके लिये इसकी महत्ता दिखलाती है, जिससे कि लोग स्तुतिके कारण रुचिकर प्रतीत हुई विद्याके उपार्जनमें आदरपूर्वक प्रवृत्त हों।

ब्रह्मविद्यायाः सम्बन्धप्रयोजन-निरूपणम्

प्रयोजनेन तु विद्यायाः साध्यसाधनलक्षणसम्बन्धम् उत्तरत्र वक्ष्यति 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (मु० उ० २।२।८)

अपने प्रयोजनके साथ ब्रह्म-विद्याका साध्यसाधनरूप सम्बन्ध आगे चलकर 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि मन्त्रद्वारा बतलाया जायगा।

इत्यादिना, अत्र चापरशब्दवाच्यायामृग्वेदादिलक्षणायां विधिप्रतिषेधमात्रपरायां विद्यायां संसारकारणाविद्यादिदोषनिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा परापरविद्याभेदकरणपूर्वकम् 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' (मु० उ० १।२।८) इत्यादिना । तथा परप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषयवैराग्यपूर्वकं गुरुप्रसादलभ्यां ब्रह्मविद्यामाह—'परीक्ष्य लोकान्' (मु० उ० १।२।१२) इत्यादिना । प्रयोजनं चासकृद्ब्रवीति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु०उ० ३।२।९) इति 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' (मु० उ० ३।२।६) इति च ।

यहाँ तो 'विधि-प्रतिषेधमात्रमें तत्पर अपर शब्दवाच्य ऋग्वेदादिरूप विद्या संसारके कारणभूत अज्ञान आदि दोषकी निवृत्ति करनेवाली नहीं है'—यह बात 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' इत्यादि वाक्योंसे विद्याके पर और अपर भेद करते हुए स्वयं ही बतलाकर फिर 'परीक्ष्य लोकान्' इत्यादि वाक्योंसे साधन-साध्यरूप सब प्रकारके विषयोंसे वैराग्यपूर्वक गुरुकृपासे प्राप्य ब्रह्मविद्याको ही परब्रह्मकी प्राप्तिका साधन बतलाया है । तथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' इत्यादि वाक्योंसे उसका प्रयोजन तो बारम्बार बतलाया है ।

संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनम्

ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणाम् अधिकारस्तथापि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति 'भैक्षचर्यां चरन्तः' (मु०उ०१।२।११) 'संन्यासयोगात्' (मु० उ० ३।२।६) इति च ब्रुवन्दर्शयति ।

यद्यपि ज्ञानमात्रमें सभी आश्रमवालोंका अधिकार है तथापि ब्रह्मविद्या केवल संन्यासगत होनेपर ही मोक्षका साधन होती है कर्मसहित नहीं—यह बात श्रुति 'भैक्षचर्यां चरन्तः' 'संन्यासयोगात्' इत्यादि कहते हुए प्रदर्शित करती है ।

ज्ञानकर्मविरोध-निरूपणम्

विद्याकर्मविरोधाच्च । न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि सम्पादयितुं शक्यम्। विद्यायाः कालविशेषाभावाद-नियतनिमित्तत्वात्कालसङ्कोचानु-पपत्तिः ।

यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्या-सम्प्रदायकर्तृत्वादि लिङ्गं न तत्स्थितन्यायं बाधितुमुत्सहते । न हि विधिशतेनापि तमःप्रकाश-योरेकत्र सद्भावः शक्यते कर्तुं किमुत लिङ्गैः केवलैरिति ।

उपनिषच्छब्द-निरुक्तिः

एवमुक्तसम्बन्धप्रयोजनाया उपनिषदोऽल्पाक्षरं ग्रन्थविवरणमारभ्यते। य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्म-भावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः

इसके सिवा विद्या और कर्मका विरोध होनेके कारण भी यही सिद्ध होता है । ब्रह्मात्मैक्यदर्शनके साथ तो कर्मोंका सम्पादन स्वप्नमें भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विद्यासम्पादनका कोई कालविशेष नहीं है और न उसका कोई नियत निमित्त ही है; अतः किसी काल-विशेषद्वारा उसका संकोच कर देना उचित नहीं है ।

गृहस्थोंमें जो ब्रह्मविद्याका सम्प्रदायकर्तृत्व आदि लिङ्ग (अस्तित्व-सूचक निदर्शन) देखा गया है वह पूर्वप्रदर्शित स्थिरतर नियमको बाधित करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि तम और प्रकाशकी एकत्र स्थिति तो सैकड़ों विधियोंसे भी नहीं की जा सकती, फिर केवल लिङ्गोंकी तो बात ही क्या है ?

इस प्रकार जिसके सम्बन्ध और प्रयोजनका निर्देश किया है उस [मुण्डक] उपनिषद्की यह संक्षिप्त व्याख्या आरम्भ की जाती है । जो लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आत्मभावसे इस ब्रह्मविद्याके समीप

सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत् । उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात् ।

जाते हैं यह उनके गर्भ, जन्म, जरा और रोग आदि अनर्थसमूहका छेदन करती है, अथवा उन्हें परब्रह्मको प्राप्त करा देती है, या संसारके कारणरूप अविद्या आदिका अत्यन्त अवसादन—विनाश कर देती है; इसीलिये इसे 'उपनिषद्' कहते हैं, क्योंकि 'उप' और 'नि' पूर्वक 'सद्' धातुका यही अर्थ माना गया है ।

आचार्यपरम्परा

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

सम्पूर्ण देवताओंमें पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ । वह विश्वका रचयिता और त्रिभुवनका रक्षक था । उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको समस्त विद्याओंकी आश्रयभूत ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया ॥ १ ॥

ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिशेत इति । देवानां द्योतनवतामिन्द्रादीनां प्रथमो गुणैः प्रधानः सन् प्रथमोऽग्रे वा सम्बभूवाभिव्यक्तः सम्यक्स्वातन्त्र्येणेत्यभिप्रायः । न तथा यथा धर्माधर्मवशात्

ब्रह्मा—परिवृढ (सबसे बढ़ा हुआ) अर्थात् महान्, जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यमें अन्य सबसे बढ़ा हुआ था, देवताओं—द्योतन करनेवालों (प्रकाशमानों), इन्द्रादिकोंमें प्रथम—गुणोंद्वारा प्रधानरूपसे अथवा सम्यक् स्वतन्त्रतापूर्वक सबसे पहले उत्पन्न हुआ था यह इसका तात्पर्य है; क्योंकि "जो यह अतीन्द्रिय, अग्राह्य……है

संसारिणोऽन्ये जायन्ते । "योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः···" (मनु० १ । ७) इत्यादिस्मृतेः ।

विश्वस्य सर्वस्य जगतः कर्तोत्पादयिता । भुवनस्योत्पन्नस्य गोप्ता पालयितेति विशेषणं ब्रह्मणो विद्यास्तुतये । स एवं प्रख्यातमहत्त्वो ब्रह्मा ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः परमात्मनो विद्यां ब्रह्मविद्यां 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' (मु० उ० १ । २ । १३) इति विशेषणात्परमात्मविषया हि सा ब्रह्मणा वाग्रजेनोक्तेति ब्रह्मविद्या तां सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः; सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव विज्ञायत इति, "येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" (छा० उ० ६ । १ । ३) इति श्रुतेः ।

[वह परमात्मा स्वयं उत्पन्न हुआ]" इत्यादि स्मृतिके अनुसार वह, जैसे अन्य संसारी जीव उत्पन्न होते हैं उस तरह धर्म या अधर्मके वशीभूत होकर उत्पन्न नहीं हुआ ।

'विश्व अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का कर्ता—उत्पन्न करनेवाला तथा उत्पन्न हुए भुवनका गोप्ता—पालन करनेवाला' ये ब्रह्माके विशेषण [उसकी उपदेश की हुई] विद्याकी स्तुतिके लिये हैं । जिसका महत्त्व इस प्रकार प्रसिद्ध है उस ब्रह्माने ब्रह्मविद्याको—ब्रह्म यानी परमात्माकी विद्याको, जो 'जिससे अक्षर और सत्य पुरुषको जानता है' ऐसे विशेषणसे युक्त होनेके कारण परमात्मसम्बन्धिनी ही है अथवा अग्रजन्मा ब्रह्माके द्वारा कही जानेके कारण जो ब्रह्मविद्या कहलाती है उस ब्रह्मविद्याको, जो समस्त विद्याओंकी अभिव्यक्तिकी हेतुभूत होनेसे, अथवा "जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, मनन न किया हुआ मनन हो जाता है तथा अज्ञात ज्ञात हो जाता है" इस श्रुतिके अनुसार इसीसे सर्वविद्यावेद्य वस्तुका ज्ञान होता है, इसलिये जो सर्वविद्याप्रतिष्ठा यानी सम्पूर्ण विद्याओंकी आश्रयभूता है, अपने ज्येष्ठ पुत्र

सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति च स्तौति। विद्यामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। ज्येष्ठश्चासौ पुत्रश्चानेकेषु ब्रह्मणः सृष्टिप्रकारेष्वन्यतमस्य सृष्टिप्रकारस्य प्रमुखे पूर्वमथर्वा सृष्ट इति ज्येष्ठस्तस्मै ज्येष्ठपुत्राय प्राहोक्तवान् ॥ १ ॥

अथर्वासे कहा । यहाँ 'सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्' इस पदसे विद्याकी स्तुति करते हैं। जो ज्येष्ठ (सबसे बड़ा) पुत्र हो उसे ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं। ब्रह्माकी सृष्टिके अनेकों प्रकारोंमें किसी एक सृष्टिप्रकारके आदिमें सबसे पहले अथर्वाको ही उत्पन्न किया गया था, इसलिये वह ज्येष्ठ है। उस ज्येष्ठ पुत्रसे कहा ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-
थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह
भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

अथर्वाको ब्रह्माने जिसका उपदेश किया था वह ब्रह्मविद्या पूर्वकालमें अथर्वाने अङ्गीको सिखायी। अङ्गीने उसे भरद्वाजके पुत्र सत्यवहसे कहा तथा भरद्वाजपुत्र (सत्यवह) ने इस प्रकार श्रेष्ठसे कनिष्ठको प्राप्त होती हुई वह विद्या अङ्गिरासे कही ॥ २ ॥

यामेतामथर्वणे प्रवदेतावदद्ब्रह्मविद्यां ब्रह्मा तामेव ब्रह्मणः प्राप्तामथर्वा पुरा पूर्वमुवाचोक्तवानङ्गिरेऽङ्गिर्नाम्ने ब्रह्मविद्याम्। स चाङ्गीर्भारद्वाजाय भरद्वाज-

जिस ब्रह्मविद्याको ब्रह्माने अथर्वासे कहा था, ब्रह्मासे प्राप्त हुई उसी ब्रह्मविद्याको पूर्वकालमें अथर्वाने अङ्गीसे यानी अङ्गी नामक मुनिसे कहा । फिर उस अङ्गी मुनिने उसे भारद्वाज सत्यवहसे यानी भरद्वाजगोत्रमें उत्पन्न

गोत्राय सत्यवहाय सत्यवहनाम्ने प्राह प्रोक्तवान्। भारद्वाजोऽङ्गिरसे स्वशिष्याय पुत्राय वा परावरां परस्मात्परस्मादवरेण प्राप्तेति परावरा परापरसर्वविद्याविषय-व्याप्तेर्वा तां परावरामङ्गिरसे प्राहेत्यनुषङ्गः ॥ २ ॥

हुए सत्यवह नामक मुनिसे कहा। तथा भारद्वाजने अपने शिष्य अथवा पुत्र अङ्गिरासे वह परावरा—पर (उत्कृष्ट) से अवर (कनिष्ठ) को प्राप्त हुई, अथवा पर और अवर सब विद्याओंके विषयोंकी व्याप्तिके कारण 'परावरा' कही जानेवाली वह विद्या अङ्गिरासे कही। इस प्रकार 'परावराम्' इस कर्मपदका पूर्वोक्त 'प्राह' क्रियासे सम्बन्ध है ॥ २ ॥

शौनककी गुरूपसत्ति और प्रश्न

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

शौनक नामक प्रसिद्ध महागृहस्थने अङ्गिराके पास विधिपूर्वक जाकर पूछा—'भगवन्! किसके जान लिये जानेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?' ॥ ३ ॥

शौनकः शुनकस्यापत्यं महाशालो महागृहस्थोऽङ्गिरसं भारद्वाजशिष्यमाचार्यं विधिवद्यथाशास्त्रमित्येतत्। उपसन्न उपगतः सन्पप्रच्छ पृष्टवान्। शौनकाङ्गिरसोः संबन्धादर्वाग्

महाशाल—महागृहस्थ शौनक—शुनकके पुत्रने भारद्वाजके शिष्य आचार्य अङ्गिराके पास विधिवत् अर्थात् शास्त्रानुसार जाकर पूछा। शौनक और अङ्गिराके सम्बन्धसे पश्चात् 'विधिवत्' विशेषण मिलनेसे

विधिवद्विशेषणादुपसदनविधेः पूर्वेषामनियम इति गम्यते। मर्यादाकरणार्थं मध्यदीपिकान्यायार्थं वा विशेषणम्; अस्मदादिष्वप्युपसदनविधेरिष्टत्वात्।

किमित्याह—कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते नु इति वितर्के, भगवो हे भगवन्सर्वं यदिदं विज्ञेयं विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवतीति एकस्मिञ्ज्ञाते सर्वविद्भवतीति शिष्टप्रवादं श्रुतवाञ्शौनकस्तद्विशेषं विज्ञातुकामः सन्कस्मिन्न्विति वितर्कयन्पप्रच्छ। अथवा लोकसामान्यदृष्ट्या ज्ञात्वैव पप्रच्छ। सन्ति लोके

यह जाना जाता है कि इनसे पूर्व आचार्योंमें [गुरूपसदनका] कोई नियम नहीं था। अतः इसकी मर्यादा निर्दिष्ट करनेके लिये अथवा मध्यदीपिकान्यायके लिये* यह विशेषण दिया गया है, क्योंकि यह उपसदनविधि हमलोगोंमें भी माननीय है।

शौनकने क्या पूछा, सो बतलाते हैं—भगवः—हे भगवन्! 'कस्मिन्नु' किस वस्तुके जान लिये जानेपर यह सब विज्ञेय पदार्थ विज्ञात—विशेषरूपसे ज्ञात यानी अवगत हो जाता है? यहाँ 'नु' का प्रयोग वितर्क (संशय) के लिये किया गया है। शौनकने 'एकहीको जान लेनेपर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है' ऐसी कोई सभ्य पुरुषोंकी कहावत सुनी थी। उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छासे ही उसने 'कस्मिन्नु' इत्यादि रूपसे वितर्क करते हुए पूछा। अथवा लोकोंकी सामान्य दृष्टिसे जान-बूझकर ही पूछा। लोकमें

* देहलीपर दीपक रखनेसे उसका प्रकाश भीतर-बाहर दोनों ओर पड़ता है—इसीको मध्यदीपिका या देहलीदीपन्याय कहते हैं। अतः यदि यह कथन इस न्यायसे ही हो तो यह समझना चाहिये कि गुरूपसदन-विधि इससे पूर्व भी थी और उससे पीछे हमलोगोंके लिये भी आवश्यक है; और यदि यह कथन मर्यादा निर्दिष्ट करनेके लिये हो तो यह समझना चाहिये कि यहींसे इस पद्धतिका प्रारम्भ हुआ।

सुवर्णादिशकलभेदाः सुवर्णत्वाद्येकत्वविज्ञानेन विज्ञायमाना लौकिकैः । तथा किं न्वस्ति सर्वस्य जगद्भेदस्यैकं कारणम्, यदेकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति ।

सुवर्णादि खण्डोंके ऐसे भेद हैं जो सुवर्णरूप होनेके कारण लौकिक पुरुषोंद्वारा [स्वर्णदृष्टिसे] उनकी एकताका ज्ञान होनेपर जान लिये जाते हैं । इसी प्रकार [प्रश्न होता है कि] 'सम्पूर्ण जगद्भेदका वह एक कारण कौन-सा है जिस एकके ही जान लिये जानेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है ?'

नन्वविदिते हि कस्मिन्निति प्रश्नोऽनुपपन्नः । किमस्ति तदिति तदा प्रश्नो युक्तः । सिद्धे ह्यस्तित्वे कस्मिन्निति स्यात्, यथा कस्मिन्निधेयमिति ।

शङ्का—जिस वस्तुका ज्ञान नहीं होता उसके विषयमें 'कस्मिन्' (किसको)* इस प्रकार प्रश्न करना तो बन नहीं सकता । उस समय तो 'क्या वह है ?' ऐसा प्रश्न ही उचित है; फिर उसका अस्तित्व सिद्ध हो जानेपर ही 'कस्मिन्' ऐसा प्रश्न हो सकता है । जैसा कि [अनेक आधारोंका ज्ञान होनेपर] 'किसमें रखा जाय' ऐसा प्रश्न किया जाता है ।

न; अक्षरबाहुल्यादायासभीरुत्वात्प्रश्नः सम्भवत्येव कस्मिन्न्वेकस्मिन्विज्ञाते सर्ववित्स्यात् इति ॥ ३ ॥

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि [तुम्हारे कथनानुसार प्रश्न करनेसे] अक्षरोंकी अधिकता होती है और अधिक आयासका भय रहता है, अतः 'किस एकके ही जान लेनेपर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है ?' ऐसा प्रश्न बन सकता है ॥ ३ ॥

---

* क्योंकि 'किस' या 'कौन' सर्वनामका प्रयोग वहीं होता है जहाँ अनेकोंकी सत्ता स्वीकारकर उनमेंसे किसी एकका निश्चय करना होता है ।

अङ्गिराका उत्तर—विद्या दो प्रकारकी है

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥

उससे उसने कहा—'ब्रह्मवेत्ताओंने कहा है कि दो विद्याएँ जाननेयोग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा' ॥ ४ ॥

तस्मै शौनकायाङ्गिरा आह किलोवाच । किमित्युच्यते । द्वे विद्ये वेदितव्ये इत्येवं ह स्म किल यद्ब्रह्मविदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनो वदन्ति । के ते इत्याह—परा च परमात्मविद्या । अपरा च धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया ।

उस शौनकसे अङ्गिराने कहा। क्या कहा ? सो बतलाते हैं—'दो विद्याएँ वेदितव्य अर्थात् जाननेयोग्य हैं ऐसा जो ब्रह्मविद्—वेदके अर्थको जाननेवाले परमार्थदर्शी हैं वे कहते हैं। वे दो विद्याएँ कौन-सी हैं ? इसपर कहते हैं—परा अर्थात् परमात्मविद्या और अपरा—धर्म, अधर्मके साधन और उनके फलसे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या ।'

ननु कस्मिन्विदिते सर्वविद्भवतीति शौनकेन पृष्टं तस्मिन्वक्तव्येऽपृष्टमाहाङ्गिरा द्वे विद्ये इत्यादिना ।

शङ्का—शौनकने तो यह पूछा था कि 'किसको जान लेनेपर पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है ?' उसके उत्तरमें जो कहना चाहिये था उसकी जगह 'दो विद्याएँ हैं' आदि बातें तो अङ्गिराने बिना पूछी ही कही हैं ।

नैष दोषः; क्रमापेक्षत्वात् प्रतिवचनस्य । अपरा हि विद्याविद्या सा निराकर्तव्या । तद्-

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्तर तो क्रमकी अपेक्षा रखता है । अपरा विद्या तो अविद्या ही है; अतः उसका निराकरण किया जाना चाहिये । उसके

विषये हि विदिते न किञ्चित्तत्त्वतो विदितं स्यादिति । निराकृत्य हि पूर्वपक्षं पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवतीति न्यायात् ॥ ४ ॥

विषयमें जान लेनेपर तो तत्त्वतः कुछ भी नहीं जाना जाता, क्योंकि यह नियम है कि 'पहले पूर्वपक्षका खण्डन कर पीछे सिद्धान्त कहा जाता है' ॥ ४ ॥

परा और अपरा विद्याका स्वरूप

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह अपरा है तथा जिससे उस अक्षर परमात्माका ज्ञान होता है वह परा है ॥ ५ ॥

तत्र कापरेत्युच्यते—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषापरा विद्या ।

उनमें अपरा विद्या कौन-सी है, सो बतलाते हैं । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छः वेदाङ्ग अपरा विद्या कहे जाते हैं ।

अथेदानीमियं परा विद्या उच्यते यया तद्वक्ष्यमाणविशेषणम् अक्षरमधिगम्यते प्राप्यते; अधि-

अब यह परा विद्या बतलायी जाती है, जिससे आगे (छठे मन्त्रमें) कहे जानेवाले विशेषणोंसे युक्त उस अक्षरका अधिगम अर्थात् प्राप्ति होती है, क्योंकि 'अधि'पूर्वक

पूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात् । न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति । अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम् ।

'गम' धातु प्रायः 'प्राप्ति' अर्थमें प्रयुक्त होती है इसके सिवा परमात्माकी प्राप्ति और उसके ज्ञानके अर्थमें कोई भेद भी नहीं है; क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति ही परमात्माकी प्राप्ति है, इससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं ।

विद्यायाः परापरभेद-मीमांसा

ननु ऋग्वेदादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनं च । "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" (मनु० १२ । ९) इति हि स्मरन्ति । कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वादनादेया स्यात् । उपनिषदां च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात् । ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणमनर्थकम् अथ परेति ।

शङ्का—तब तो वह (ब्रह्मविद्या) ऋग्वेदादिसे बाह्य है, अतः वह परा विद्या अथवा मोक्षकी साधनभूत किस प्रकार हो सकती है? स्मृतियाँ तो कहती हैं कि "जो वेदबाह्य स्मृतियाँ और जो कोई कुदृष्टियाँ (कुविचार) हैं वे परलोकमें निष्फल और नरककी साधन मानी गयी हैं ।" अतः कुदृष्टि होनेसे निष्फल होनेके कारण वह ग्राह्य नहीं हो सकती । तथा इससे उपनिषद् भी ऋग्वेदादिसे बाह्य माने जायँगे और यदि इन्हें ऋग्वेदादिमें ही माना जायगा तो 'अथ परा' आदि वाक्यसे जो परा विद्याको पृथक् बतलाया गया है वह व्यर्थ हो जायगा ।

न; वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात् । उपनिषद्वेद्याक्षर-

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि [परा विद्यासे] वेद्यविषयक ज्ञान बतलाना अभीष्ट है ।

विषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः । वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः । शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति कथनं चेति ॥ ५ ॥

यहाँ प्रधानतासे यही बतलाना इष्ट है कि उपनिषद्वेद्य अक्षरविषयक विज्ञान ही परा विद्या है, उपनिषद्की शब्दराशि नहीं । और 'वेद' शब्दसे सर्वत्र शब्दराशि ही कही जाती है । शब्दसमूहका ज्ञान हो जानेपर भी गुरूपसत्ति आदिरूप प्रयत्नान्तर तथा वैराग्यके बिना अक्षरब्रह्मका ज्ञान नहीं हो सकता; इसीलिये ब्रह्मविद्याका पृथक्करण और 'अथ परा विद्या' आदिका कथन किया गया है ॥ ५ ॥

परविद्याया वाक्यार्थज्ञानजन्यत्वम्

यथा विधिविषये कर्त्राद्यनेककारकोपसंहारद्वारेण वाक्यार्थज्ञानकालाद् अन्यत्रानुष्ठेयोऽर्थोऽस्ति अग्निहोत्रादिलक्षणो न तथेह परविद्याविषये; वाक्यार्थज्ञानसमकाल एव तु पर्यवसितो भवति । केवलशब्दप्रकाशितार्थज्ञानमात्रनिष्ठाव्यतिरिक्ताभावात् ।

जिस प्रकार विधि (कर्मकाण्ड) के सम्बन्धमें [उसका प्रतिपादन करनेवाले] वाक्योंका अर्थ जाननेके समयसे भिन्न कर्ता आदि अनेकों कारकों (क्रियानिष्पत्तिके साधनों) के उपसंहारद्वारा अग्निहोत्र आदि अनुष्ठेय अर्थ रह जाता है, उस प्रकार परा विद्याके सम्बन्धमें नहीं होता । इसका कार्य तो वाक्यार्थज्ञानके समकालमें ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि केवल शब्दोंके योगसे प्रकाशित होनेवाले अर्थज्ञानमें स्थिति कर देनेसे भिन्न इसका और कोई प्रयोजन नहीं है । अतः

तस्मादिह परां विद्यां सविशेषणेन अक्षरेण विशिनष्टि यत्तदद्रेश्यम् इत्यादिना । वक्ष्यमाणं बुद्धौ संहृत्य सिद्धवत्परामृश्यते— यत्तदिति ।

यहाँ 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादि विशेषणों-से विशेषित अक्षरब्रह्मका निर्देश करते हुए उस परा विद्याको विशेषित करते हैं । आगे जो कुछ कहना है उसे अपनी बुद्धिमें बिठाकर 'यत्तद्' इत्यादि वाक्यसे उसका सिद्ध वस्तुके समान उल्लेख करते हैं—

पराविद्याप्रदर्शन

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-पादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुःश्रोत्रादिहीन है, इसी प्रकार अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका कारण है उसे विवेकीलोग सब ओर देखते हैं ॥ ६ ॥

अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां बुद्धीन्द्रियाणामगम्यमित्येतत् । दृशेर्बहिःप्रवृत्तस्य पञ्चेन्द्रियद्वारकत्वात् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत् । अगोत्रं गोत्रमन्वयो मूलमित्यनर्थान्तरमगोत्रमनन्वयमित्यर्थः ।

वह जो अद्रेश्यम्—अदृश्य अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियोंका अविषय है, क्योंकि बाहरको प्रवृत्त हुई दृक्शक्ति पञ्चज्ञानेन्द्रियरूप द्वारवाली है; अग्राह्य अर्थात् कर्मेन्द्रियोंका अविषय है; अगोत्रम्—गोत्र अन्वय अथवा मूल—ये किसी अन्य अर्थके वाचक नहीं हैं [अर्थात् इनका एक ही अर्थ है] अतः अगोत्र यानी अनन्वय है, क्योंकि उस

न हि तस्य मूलमस्ति येन अन्वितं स्यात्। वर्ण्यन्त इति वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयः शुक्लत्वादयो वा। अविद्यमाना वर्णा यस्य तदवर्णमक्षरम्। अचक्षुःश्रोत्रं चक्षुश्च श्रोत्रं च नामरूपविषये करणे सर्वजन्तूनां ते अविद्यमाने यस्य तदचक्षुःश्रोत्रं, 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति चेतनावत्त्वविशेषणात् प्राप्तं संसारिणामिव चक्षुःश्रोत्रादिभिः करणैरर्थसाधकत्वं तदिहाचक्षुःश्रोत्रमिति वार्यते "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० उ० ३। १९) इत्यादिदर्शनात्।

अक्षर [अक्षरब्रह्म] का कोई मूल नहीं है जिससे वह अन्वित हो; जिनका वर्णन किया जाय वे स्थूलत्वादि या शुक्लत्वादि द्रव्यके धर्म ही वर्ण हैं—वे वर्ण जिसमें विद्यमान नहीं हैं वह अक्षर अवर्ण है; अचक्षुःश्रोत्रम्—चक्षु (नेत्रेन्द्रिय) और श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) ये सम्पूर्ण प्राणियोंकी रूप और शब्दको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ हैं, वे जिसमें नहीं हैं उसे ही 'अचक्षुःश्रोत्र' कहते हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुतिमें पुरुषके लिये चेतनावत्त्व विशेषण दिया गया है, अतः अन्य संसारी जीवोंके समान उसके लिये भी चक्षुःश्रोत्रादि इन्द्रियोंसे अर्थसाधकत्व प्राप्त होता है, यहाँ 'अचक्षुःश्रोत्रम्' कहकर उसीका निषेध किया जाता है, जैसा कि उसके विषयमें "बिना नेत्रवाला होकर भी देखता है, बिना कानवाला होकर भी सुनता है" इत्यादि कथन देखा गया है।

किं च तदपाणिपादं कर्मेन्द्रियरहितमित्येतत्। यत एवमग्राह्य-

यही नहीं, वह अपाणिपाद अर्थात् कर्मेन्द्रियोंसे भी रहित है। क्योंकि इस प्रकार वह अग्राह्य

मग्राहकं चातो नित्यम् अविनाशि। विभुं विविधं ब्रह्मादि-स्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवति इति विभुम्। सर्वगतं व्यापकमाकाश-वत्सुसूक्ष्मं शब्दादिस्थूलत्व-कारणरहितत्वात्। शब्दादयो ह्याकाशवाय्वादीनामुत्तरोत्तरं स्थूलत्वकारणानि तदभावात् सूक्ष्मम्। किं च तदव्ययमुक्तधर्म-त्वादेव न व्येतीत्यव्ययम्। न हि अनङ्गस्य स्वाङ्गापचयलक्षणो व्ययः सम्भवति शरीरस्येव। नापि कोशा-पचयलक्षणो व्ययः सम्भवति राज्ञ इव। नापि गुणद्वारको व्ययः सम्भवत्यगुणत्वात्सर्वात्म-कत्वाच्च।

और अग्राहक भी है, इसलिये वह नित्य—अविनाशी है। तथा विभु—ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त प्राणि-भेदसे वह विविध (अनेक प्रकारका) हो जाता है, इसलिये विभु है, सर्वगत—व्यापक है और शब्दादि स्थूलताके कारणोंसे रहित होनेके कारण आकाशके समान अत्यन्त सूक्ष्म है, शब्दादि गुण ही आकाश-वायु आदिकी उत्तरोत्तर स्थूलताके कारण हैं, उनसे रहित होनेके कारण वह [अक्षरब्रह्म] सुसूक्ष्म है। तथा उपर्युक्त धर्मवाला होनेसे ही कभी उसका व्यय (ह्रास) नहीं होता इसलिये वह अव्यय है; क्योंकि अङ्गहीन वस्तुका शरीरके समान अपने अङ्गोंका क्षयरूप व्यय नहीं हो सकता, न राजाके समान कोशक्षयरूप व्यय ही सम्भव है और न निर्गुण तथा सर्वात्मक होनेके कारण उसका गुणक्षयद्वारा ही व्यय हो सकता है।

यदेवंलक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं पृथिवीव स्थावरजङ्ग-मानां परिपश्यन्ति सर्वत आत्म-भूतं सर्वस्याक्षरं पश्यन्ति धीराः

पृथिवी जैसे स्थावर-जङ्गम जगत्का कारण है उसी प्रकार जिस ऐसे लक्षणोंवाले भूतयोनि—भूतोंके कारण सबके आत्मभूत अक्षरब्रह्मको धीर—बुद्धिमान्—

धीमन्तो विवेकिनः । ईदृशमक्षरं यया विद्ययाधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः ॥ ६ ॥

विवेकी पुरुष सब ओर देखते हैं, ऐसा अक्षर जिस विद्यासे जाना जाता है वही परा विद्या है—यह इस सम्पूर्ण मन्त्रका तात्पर्य है॥६॥

अक्षरब्रह्मका विश्वकारणत्व

भूतयोन्यक्षरमित्युक्तम् । तत्कथं भूतयोनित्वमित्युच्यते प्रसिद्ध-दृष्टान्तैः—

पहले कहा जा चुका है कि अक्षरब्रह्म भूतोंकी योनि है । उसका वह भूतयोनित्व किस प्रकार है, सो प्रसिद्ध दृष्टान्तोंद्वारा बतलाया जाता है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

जिस प्रकार मकड़ी जालेको बनाती और उसे निगल जाती है, जैसे पृथिवीमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुषसे केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस अक्षरसे यह विश्व प्रकट होता है।

यथा लोके प्रसिद्धम्, ऊर्णनाभिर्लूताकीटः किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तानेव तन्तून्बहिः प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णाति स्वात्मभावमेवापादयति ।

जिस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध है कि ऊर्णनाभि—मकड़ी किसी अन्य उपकरणकी अपेक्षा न कर स्वयं ही अपने शरीरसे अभिन्न तन्तुओंको रचती अर्थात् उन्हें बाहर फैलाती है और फिर उन्हींको ग्रहण भी कर लेती है, यानी अपने शरीरसे

यथा च पृथिव्यामोषधयो व्रीह्यादिस्थावरान्ता इत्यर्थः। आत्माव्यतिरिक्ता एव प्रभवन्ति। यथा च सतो विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात्केशलोमानि केशाश्च लोमानि च सम्भवन्ति विलक्षणानि।

अभिन्न कर देती है, तथा जैसे पृथिवीमें व्रीहि-यव इत्यादिसे लेकर वृक्षपर्यन्त समस्त ओषधियाँ उससे अभिन्न ही उत्पन्न होती हैं और जैसे सत्—विद्यमान अर्थात् जीवित पुरुषसे उससे विलक्षण केश और लोम उत्पन्न होते हैं।

यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरानपेक्षाद्यथोक्तलक्षणादक्षरात्सम्भवति समुत्पद्यत इह संसारमण्डले विश्वं समस्तं जगत्। अनेकदृष्टान्तोपादानं तु सुखार्थप्रबोधनार्थम् ॥ ७ ॥

जैसे कि ये दृष्टान्त हैं उसी प्रकार इस संसारमण्डलमें इससे विभिन्न और समान लक्षणोंवाला यह विश्व—समस्त जगत् किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न करनेवाले उस उपर्युक्तलक्षणविशिष्ट अक्षरसे ही उत्पन्न होता है। ये अनेक दृष्टान्त केवल विषयको सरलतासे समझनेके लिये ही लिये गये हैं ॥ ७ ॥

सृष्टिक्रम

यद्ब्रह्मण उत्पद्यमानं विश्वं तदनेन क्रमेणोत्पद्यते न युगपद्बदरमुष्टिप्रक्षेपवदिति क्रमनियमविवक्षार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—

ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाला जो जगत् है वह इस क्रमसे उत्पन्न होता है, बेरोंकी मुट्ठी फेंक देनेके समान एक साथ उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार उस क्रमके नियमको बतलानेकी इच्छावाला यह मन्त्र आरम्भ किया जाता है—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

[ज्ञानरूप] तपके द्वारा ब्रह्म कुछ उपचय (स्थूलता) को प्राप्त हो जाता है, उसीसे अन्न उत्पन्न होता है । फिर अन्नसे क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और कर्मसे अमृतसंज्ञक कर्मफल उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

तपसा ज्ञानेनोत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयत उपचीयत उत्पिपादयिषदिदं जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छूनतां गच्छति पुत्रमिव पिता हर्षेण ।

उत्पत्तिविधिका ज्ञाता होनेके कारण तप अर्थात् ज्ञानसे भूतोंका कारणरूप अक्षरब्रह्म उपचित होता है; अर्थात् इस जगत्को उत्पन्न करनेकी इच्छा करते हुए वह कुछ स्थूलताको प्राप्त हो जाता है, जैसे अङ्कुररूपमें परिणत होता हुआ बीज कुछ स्थूल हो जाता अथवा पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छावाला पिता हर्षसे उल्लसित हो जाता है ।

एवं सर्वज्ञतया सृष्टिस्थितिसंहारशक्तिविज्ञानवत्तयोपचितात् ततो ब्रह्मणोऽन्नमद्यते भुज्यत इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्थारूपेण अभिजायत उत्पद्यते । ततश्च अव्याकृताद्व्याचिकीर्षितावस्थातः अन्नात्प्राणो हिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितजगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमु-

इस प्रकार सर्वज्ञ होनेके कारण सृष्टि स्थिति और संहार-शक्तिकी विज्ञानवत्तासे वृद्धिको प्राप्त हुए उस ब्रह्मसे अन्न—जो खाया यानी भोजन किया जाय उसे अन्न कहते हैं, वह सबका साधारण कारणरूप अव्याकृत संसारियोंकी व्याचिकीर्षित (व्यक्त की जानेवाली) अवस्थारूपसे उत्पन्न होता है । उस अव्याकृतसे यानी व्याचिकीर्षित अवस्थावाले अन्नसे प्राण—हिरण्यगर्भ यानी ब्रह्मकी ज्ञान और क्रियाशक्तियोंसे अधिष्ठित, व्यष्टि जीवोंका समष्टिरूप तथा अविद्या, काम, कर्म और भूतोंके समुदायरूप

दाय बीजाङ्कुरो जगदात्माभिजायत इत्यनुषङ्गः।

तस्माच्च प्राणान्मनो मनआख्यं सङ्कल्पविकल्पसंशयनिर्णयाद्यात्मकमभिजायते। ततोऽपि सङ्कल्पाद्यात्मकान्मनसः सत्यं सत्याख्यमाकाशादि भूतपञ्चकम् अभिजायते। तस्मात्सत्याख्याद्भूतपञ्चकाद् अण्डक्रमेण सप्तलोका भूरादयः। तेषु मनुष्यादिप्राणिवर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि। कर्मसु च निमित्तभूतेष्वमृतं कर्मजं फलम्। यावत्कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि न विनश्यन्ति तावत्फलं न विनश्यति इत्यमृतम्॥ ८॥

बीजका अङ्कुर जगदात्मा उत्पन्न होता है। यहाँ प्राण शब्दका 'अभिजायते' क्रियासे सम्बन्ध है।

तथा उस प्राणसे मन यानी संकल्प-विकल्प-संशय-निर्णयात्मक मननामक अन्तःकरण उत्पन्न होता है। उस सङ्कल्पादिरूप मनसे भी सत्य—सत्यनामक आकाशादि भूतपञ्चककी उत्पत्ति होती है। फिर उस सत्यसंज्ञक भूतपञ्चकसे ब्रह्माण्डक्रमसे भूः आदि सात लोक उत्पन्न होते हैं। उनमें मनुष्यादि प्राणियोंके वर्ण और आश्रमके क्रमसे कर्म होते हैं तथा उन निमित्तभूत कर्मोंसे अमृत—कर्मजनित फल होता है। जबतक सौ करोड़ कल्पतक भी कर्मोंका नाश नहीं होता तबतक उनका फल भी नष्ट नहीं होता; इसलिये कर्मफलको 'अमृत' कहा है॥ ८॥

उक्तमेवार्थमुपसंजिहीर्षुर्मन्त्रो वक्ष्यमाणार्थमाह—

पूर्वोक्त अर्थका ही उपसंहार करनेकी इच्छावाला [यह नवम] मन्त्र आगे कहा जानेवाला अर्थ कहता है—

प्रकरणका उपसंहार

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥ ९॥

जो सबको [सामान्यरूपसे] जाननेवाला और सबका विशेषज्ञ है तथा जिसका ज्ञानमय तप है उस [अक्षरब्रह्म] से ही यह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ), नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

य उक्तलक्षणोऽक्षराख्यः सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः । विशेषेण सर्वं वेत्तीति सर्ववित् । यस्य ज्ञानमयं ज्ञानविकारमेव सार्वज्ञ्यलक्षणं तपो नायासलक्षणं तस्माद्यथोक्तात् सर्वज्ञादेतदुक्तं कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते । किं च नामासौ देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिलक्षणम्, रूपमिदं शुक्लं नीलमित्यादि, अन्नं च व्रीहियवादिलक्षणं जायते । पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेण इत्यविरोधो द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

जो ऊपर कहे हुए लक्षणोंवाला अक्षरसंज्ञक ब्रह्म सर्वज्ञ—सबको सामान्यरूपसे जानता है, इसलिये सर्वज्ञ और विशेषरूपसे सब कुछ जानता है इसलिये सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय अर्थात् सर्वज्ञतारूप ज्ञानविकार ही तप है—आयासरूप तप नहीं है उस उपर्युक्त सर्वज्ञसे ही यह पूर्वोक्त हिरण्यगर्भसंज्ञक कार्यब्रह्म उत्पन्न होता है । तथा उसीसे पूर्वोक्त मन्त्रके क्रमानुसार यह देवदत्त-यज्ञदत्त इत्यादि नाम, यह शुक्ल-नील इत्यादि रूप तथा व्रीहि-यवादिरूप अन्न उत्पन्न होता है । अतः पूर्वमन्त्रसे इसका अविरोध समझना चाहिये ॥ ९ ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

कर्मनिरूपण

पूर्वापरसम्बन्ध-निरूपणम्

साङ्गा वेदा अपरा विद्योक्ता ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिना । यत्तदद्रेश्यम् इत्यादिना नामरूपम् अन्नं च जायत इत्यन्तेन ग्रन्थेन उक्तलक्षणमक्षरं यया विद्यया अधिगम्यत इति परा विद्या सविशेषणोक्ता । अतःपरमनयोर्विद्ययोर्विषयौ विवेक्तव्यौ संसारमोक्षावित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते ।

ऊपर 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादि [पञ्चम] मन्त्रसे अङ्गों-सहित वेदोंको अपरा विद्या बतलाया है । तथा 'यत्तदद्रेश्यम' इत्यादिसे लेकर 'नामरूपमन्नं च जायते' यहाँतकके ग्रन्थसे जिसके द्वारा उपर्युक्त लक्षणवाले अक्षरका ज्ञान होता है उस परा विद्याका उसके विशेषणोंसहित वर्णन किया । इसके पश्चात् इन दोनों विद्याओंके विषय संसार और मोक्षका विवेक करना है; इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।

संसारमोक्षयोः स्वरूपानिर्देशः

तत्रापरविद्याविषयः कर्त्रादिसाधनक्रियाफलभेदरूपः संसारोऽनादिः अनन्तो दुःखस्वरूपत्वाद्धातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः सामस्त्येन नदीस्रोतोवदव्यवच्छेदरूपसम्बन्धः, तदुपशमलक्षणो

उनमें अपरा विद्याका विषय संसार है, जो कर्ता-करण आदि साधनोंसे होनेवाले कर्म और उसके फलरूप भेदवाला, अनादि, अनन्त और नदीके प्रवाहके समान अविच्छिन्न सम्बन्धवाला है तथा दुःखरूप होनेके कारण प्रत्येक देहधारीके लिये सर्वथा त्याज्य है । उस (संसार) का उपशमरूप

मोक्षः परविद्याविषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः शुद्धः प्रसन्नः स्वात्मप्रतिष्ठालक्षणः परमानन्दोऽद्वय इति ।

मोक्ष परा विद्याका विषय है और वह अनादि, अनन्त, अजर, अमर, अमृत, अभय, शुद्ध, प्रसन्न, स्वस्वरूपमें स्थितिरूप तथा परमानन्द एवं अद्वितीय है ।

पूर्वं तावदपरविद्याया विषयप्रदर्शनार्थमारम्भः । तद्दर्शने हि तन्निर्वेदोपपत्तेः । तथा च वक्ष्यति—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्' (मु० उ० १ । २ । १२) इत्यादिना । न ह्यप्रदर्शिते परीक्षोपपद्यत इति तत्प्रदर्शयन्नाह—

उन दोनोंमें पहले अपरा विद्याका विषय दिखलानेके लिये आरम्भ किया जाता है, क्योंकि उसे जान लेनेपर ही उससे विराग हो सकता है । ऐसा ही 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्' इत्यादि वाक्योंसे आगे कहेंगे भी । बिना दिखलाये हुए उसकी परीक्षा नहीं हो सकती; अतः उस (कर्मफल) को दिखलाते हुए कहते हैं—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

बुद्धिमान् ऋषियोंने जिन कर्मोंका मन्त्रोंमें साक्षात्कार किया था वही यह सत्य है, त्रेतायुगमें उन कर्मोंका अनेक प्रकार विस्तार हुआ । सत्य (कर्मफल) की कामनासे युक्त होकर उनका नित्य आचरण करो; लोकमें यही तुम्हारे लिये सुकृत (कर्मफलकी प्राप्ति) का मार्ग है ॥ १ ॥

तदेतत्सत्यमवितथम् । किं तत्? मन्त्रेष्वृग्वेदाद्याख्येषु कर्माणि अग्निहोत्रादीनि मन्त्रैरेव प्रकाशि-

वही यह सत्य अर्थात् अमिथ्या है । वह क्या ? ऋग्वेदादि मन्त्रोंमें मन्त्रोंद्वारा ही प्रकाशित जिन

तानि कवयो मेधाविनो वसिष्ठादयो यान्यपश्यन्दृष्टवन्तः। यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधनत्वात्। तानि च वेदविहितान्यृषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां त्रयीसंयोगलक्षणायां हौत्राध्वर्य्वौद्गात्रप्रकारायामधिकरणभूतायां बहुधा बहुप्रकारं सन्ततानि प्रवृत्तानि कर्मिभिः क्रियमाणानि त्रेतायां वा युगे प्रायशः प्रवृत्तानि।

अतो यूयं तान्याचरथ निर्वर्तयत नियतं नित्यं सत्यकामा यथाभूतकर्मफलकामाः सन्तः। एष वो युष्माकं पन्था मार्गः सुकृतस्य स्वयं निर्वर्तितस्य कर्मणो लोके, फलनिमित्तं लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति कर्मफलं लोक उच्यते; तदर्थं तत्प्राप्तय एष मार्ग इत्यर्थः। यान्येतानि अग्निहोत्रादीनि त्रय्यां विहितानि कर्माणि तान्येष पन्था अवश्यफलप्राप्तिसाधनमित्यर्थः ॥ १ ॥

अग्निहोत्रादि कर्मोंको कवियों अर्थात् वसिष्ठादि मेधावियोंने देखा था, वही पुरुषार्थका एकमात्र साधन होनेके कारण यह सत्य है। वे ही वेदविहित और ऋषिदृष्ट कर्म त्रेतामें—[ऋग्वेदविहित] हौत्र, [यजुर्वेदोक्त] आध्वर्यव और [सामवेदविहित] औद्गात्र ही जिसके प्रकारभेद हैं उस अधिकरणभूत त्रयीसंयोगरूप त्रेतामें अनेक प्रकार सन्तत—प्रवृत्त हुए, अथवा कर्मठोंद्वारा किये जाकर प्रायशः- त्रेतायुगमें प्रवृत्त हुए।

अतः सत्यकाम यानी यथाभूत कर्मफलकी इच्छावाले होकर तुम उनका नियत—नित्य आचरण करो। यही तुम्हारे सुकृत—स्वयं किये हुए कर्मोंके लोककी प्राप्तिके लिये मार्ग है। फलके निमित्तसे लोकित, दृष्ट अथवा भोगा जाता है इसलिये कर्मफल 'लोक' कहलाता है; उस (कर्मफल) के लिये अर्थात् उसकी प्राप्तिके लिये यही मार्ग है। तात्पर्य यह है कि वेदत्रयीमें विहित जो ये अग्निहोत्र आदि कर्म हैं वे ही यह मार्ग यानी अवश्य फलप्राप्तिका साधन हैं ॥ १ ॥

अग्निहोत्रका वर्णन

तत्राग्निहोत्रमेव तावत्प्रथमं प्रदर्शनार्थमुच्यते सर्वकर्मणां प्राथम्यात् । तत्कथम् ?

उनमें सबसे पहले प्रदर्शित करनेके लिये अग्निहोत्रका ही वर्णन किया जाता है, क्योंकि [अग्नि-साध्य कर्मोंमें] उसीकी प्रधानता है । सो किस प्रकार ?

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

जिस समय अग्निके प्रदीप्त होनेपर उसकी ज्वाला उठने लगे उस समय दोनों आज्यभागोंके* मध्यमें [प्रातः और सायंकाल] आहुतियाँ डाले ॥ २ ॥

यदैवेन्धनैरभ्याहितैः सम्यगिद्धे समिद्धे हव्यवाहने लेलायते चलत्यर्चिस्तदा तस्मिन्काले लेलायमाने चलत्यर्चिष्याज्यभागावाज्यभागयोरन्तरेण मध्य आवापस्थान आहुतीः प्रतिपादयेत्प्रक्षिपेद्देवतामुद्दिश्य । अनेकाहप्रयोगापेक्षयाहुतीरिति बहुवचनम् ॥ २ ॥

जिस समय सब ओर आधान किये हुए ईंधनद्वारा सम्यक् प्रकारसे इद्ध अर्थात् प्रज्वलित होनेपर अग्निसे ज्वाला उठने लगे तब—उस समय ज्वालाओंके चञ्चल हो उठनेपर आज्यभागोंके अन्तर—मध्यमें आवापस्थानमें देवताओंके उद्देश्यसे आहुतियाँ देनी चाहिये । अनेक दिन-तक होनेवाले प्रयोगकी अपेक्षासे यहाँ 'आहुतीः' इस बहुवचनका प्रयोग किया गया है ॥ २ ॥

---

* दर्श-पौर्णमास यज्ञमें आहवनीय अग्निके उत्तर और दक्षिण ओर 'अग्नये स्वाहा' तथा 'सोमाय स्वाहा' इन मन्त्रोंसे दो घृताहुतियाँ दी जाती हैं । उन्हें 'आज्यभाग' कहते हैं । इनके बीचका भाग 'आवापस्थान' कहलाता है । शेष सब आहुतियाँ उसीमें दी जाती हैं ।

विधिहीन कर्मका कुफल

एष सम्यगाहुतिप्रक्षेपादिलक्षणः कर्ममार्गो लोकप्राप्तये पन्थास्तस्य च सम्यक्करणं दुष्करम्। विपत्तयस्त्वनेका भवन्ति। कथम्?

यह यथाविधि आहुतिप्रदानरूप कर्ममार्ग [स्वर्गादि] लोकोंकी प्राप्तिका साधन है। इसका यथावत् होना बड़ा ही दुष्कर है। इसमें अनेकों विपत्तियाँ आ सकती हैं। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—]

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३ ॥

जिसका अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और आग्रयण—इन कर्मोंसे रहित, अतिथि-पूजनसे वर्जित, यथासमय किये जानेवाले हवन और वैश्वदेवसे रहित अथवा अविधिपूर्वक हवन किया होता है, उसकी मानो सात पीढ़ियोंका वह नाश कर देता है ॥ ३ ॥

यस्याग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रमदर्शं दर्शाख्येन कर्मणा वर्जितम्। अग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्तव्यत्वाद् दर्शस्य। अग्निहोत्रसम्बन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिव भवति। तदक्रियमाणमित्येतत्। तथापौर्णमासम् इत्यादिष्वप्यग्निहोत्रविशेषणत्वं द्रष्टव्यम्, अग्निहोत्राङ्गत्वस्य

जिस अग्निहोत्रीका अग्निहोत्र अदर्श—दर्शनामक कर्मसे रहित होता है, क्योंकि अग्निहोत्रियोंको दर्शकर्म अवश्य करना चाहिये। अग्निहोत्रसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण [यह दर्शकर्म] अग्निहोत्रके विशेषणके समान प्रयुक्त हुआ है। अतः जिसके द्वारा इसका अनुष्ठान नहीं किया जाता। इसी प्रकार 'अपौर्णमासम्' आदिमें भी अग्निहोत्रका विशेषणत्व देखना चाहिये, क्योंकि अग्निहोत्रके अङ्ग होनेमें उन [पौर्णमास आदि]

अविशिष्टत्वात् । अपौर्णमासं पौर्णमासकर्मवर्जितम्, अचातुर्मास्यं चातुर्मास्यकर्मवर्जितम्, अनाग्रयणमाग्रयणं शरदादिकर्तव्यं तच्च न क्रियते यस्य, तथातिथिवर्जितं चातिथिपूजनं चाहन्यहन्यक्रियमाणं यस्य, स्वयं सम्यगग्निहोत्रकालेऽहुतम्, अदर्शादिवदवैश्वदेवं वैश्वदेवकर्मवर्जितम्, हूयमानमप्यविधिना हुतं न यथाहुतमित्येतद् एवं दुःसम्पादितमसम्पादितम् अग्निहोत्राद्युपलक्षितं कर्म किं करोतीत्युच्यते ।

की दर्शसे समानता है । [अतः जिनका अग्निहोत्र] अपौर्णमास—पौर्णमास कर्मसे रहित, अचातुर्मास्य—चातुर्मास्य कर्मसे रहित, अनाग्रयण—शरदादि ऋतुओंमें [नवीन अन्नसे] किया जानेवाला जो आग्रयण कर्म है वह जिस (अग्निहोत्र) का नहीं किया जाता वह अनाग्रयण है, तथा अतिथिवर्जित—जिसमें नित्यप्रति अतिथिपूजन नहीं किया गया, ऐसा होता है और जो स्वयं भी, जिसमें विधिपूर्वक अग्निहोत्रकालमें हवन नहीं किया गया, ऐसा है तथा जो अदर्श आदिके समान अवैश्वदेव—वैश्वदेव कर्मसे रहित है और यदि [उसमें] हवन भी किया गया है तो अविधिपूर्वक ही किया गया है, यानी यथोचित रीतिसे जिसमें हवन नहीं किया गया ऐसा है; इस प्रकार अनुचित रीतिसे किया हुआ अथवा बिना किया हुआ अग्निहोत्र आदिसे उपलक्षित कर्म क्या करता है ? सो बतलाया जाता है—

आसप्तमान्सप्तमसहितांस्तस्य कर्तुर्लोकान्हिनस्ति हिनस्तीव आयासमात्रफलत्वात् । सम्यक्क्रिय-

वह कर्म केवल परिश्रममात्र फलवाला होनेके कारण उस कर्ताके सातों—सप्तम लोकसहित सम्पूर्ण लोकोंको नष्ट—विध्वस्त-सा कर देता है । कर्मोंका यथावत् अनुष्ठान

मार्गेषु हि कर्मसु कर्मपरिणामानुरूपेण भूरादयः सत्यान्ताः सप्त लोकाः फलं प्राप्यन्ते । ते लोका एवंभूतेनाग्निहोत्रादिकर्मणा त्वप्राप्यत्वाद्धिंस्यन्त इव । आयासमात्रं त्वव्यभिचारीत्यतो हिनस्तीत्युच्यते ।

पिण्डदानाद्यनुग्रहेण वा सम्बध्यमानाः पितृपितामहप्रपितामहाः पुत्रपौत्रप्रपौत्राः स्वात्मोपकाराः सप्त लोका उक्तप्रकारेणाग्निहोत्रादिना न भवन्तीति हिंस्यन्त इत्युच्यते ॥३॥

किया जानेपर ही कर्मफलके अनुसार भूर्लोकसे लेकर सत्यलोकपर्यन्त सात लोक फलरूपसे प्राप्त होते हैं। वे लोक इस प्रकारके अग्निहोत्रादि कर्मसे तो अप्राप्य होनेके कारण मानो नष्ट ही कर दिये जाते हैं। हाँ उसका परिश्रममात्र फल तो अव्यभिचारी—अनिवार्य है, इसीलिये 'हिनस्ति' [अर्थात् वह अग्निहोत्र उसके सातों लोकोंको नष्ट कर देता है] ऐसा कहा है।

अथवा पिण्डदानादि अनुग्रहके द्वारा यजमानसे सम्बद्ध पिता, पितामह और प्रपितामह [ये तीन पूर्वपुरुष] तथा पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र [ये तीन आगे होनेवाली सन्ततियाँ ये ही अपने सहित] अपना उपकार करनेवाले सात लोक हैं। ये उक्त प्रकारके अग्निहोत्र आदिसे प्राप्त नहीं होते; इसलिये 'नष्ट कर दिये जाते हैं' इस प्रकार कहा जाता है ॥ ३ ॥

अग्निकी सात जिह्वाएँ

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।

स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची देवी—ये उस (अग्नि) की लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं ॥ ४ ॥

कालीकरालीच मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः। काल्याद्या विश्वरुच्यन्ता लेलायमाना अग्नेर्हविराहुतिग्रसनार्था एताः सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची देवी—ये अग्निकी लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं। कालीसे लेकर विश्वरुचीतक—ये अग्निकी सात चञ्चल जिह्वाएँ हवि—आहुतिका ग्रास करनेके लिये हैं ॥ ४ ॥

विधिवत् अग्निहोत्रादिसे स्वर्गप्राप्ति

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥

जो पुरुष इन देदीप्यमान अग्निशिखाओंमें यथासमय आहुतियाँ देता हुआ [अग्निहोत्रादि कर्मका] आचरण करता है उसे ये सूर्यकी किरणें होकर वहाँ ले जाती हैं जहाँ देवताओंका एकमात्र स्वामी [इन्द्र] रहता है ॥ ५ ॥

एतेष्वग्निजिह्वाभेदेषु योऽग्निहोत्री चरते कर्माचरत्यग्निहोत्रादि भ्राजमानेषु दीप्यमानेषु । यथाकालं च यस्य कर्मणो यः कालस्तत्कालं यथाकालं यजमानमाददायन्नाददाना आहुतयो यजमानेन निर्वर्तितास्तं नयन्ति प्रापयन्त्येता आहुतयो या इमा अनेन निर्वर्तिताः सूर्यस्य रश्मयो भूत्वा रश्मिद्वारैरित्यर्थः । यत्र यस्मिन्स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एकः सर्वानुपरि अधि वसतीत्यधिवासः ॥ ५ ॥

जो अग्निहोत्री इन भ्राजमान—दीप्तिमान् अग्निजिह्वाके भेदोंमें यथाकाल यानी जिस कर्मका जो काल है उस कालका अतिक्रमण न करते हुए अग्निहोत्रादि कर्मका आचरण करता है, उस यजमानको इसकी दी हुई वे आहुतियाँ सूर्यकी किरणें होकर अर्थात् सूर्यकी किरणोंद्वारा वहाँ पहुँचा देती हैं जहाँ—जिस स्वर्गलोकमें देवताओंका एकमात्र पति इन्द्र सबके ऊपर अधिवास—अधिष्ठान करता है ।५।

कथं सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्तीत्युच्यते—

वे सूर्यकी किरणोंद्वारा यजमानको किस प्रकार ले जाती हैं, सो बतलाया जाता है—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥

वे दीप्तिमती आहुतियाँ 'आओ, आओ, यह तुम्हारे सुकृतसे प्राप्त हुआ पवित्र ब्रह्मलोक (स्वर्ग) है' ऐसी प्रियवाणी कहकर यजमानका अर्चन (सत्कार) करती हुई उसे ले जाती हैं ॥ ६ ॥

एह्येहीत्याह्वयन्त्यः सुवर्चसो दीप्तिमत्यः किं च प्रियाम् इष्टां वाचं स्तुत्यादिलक्षणामभिवदन्त्य उच्चारयन्त्योऽर्चयन्त्यः पूजयन्त्यश्चैष वो युष्माकं पुण्यः सुकृतः पन्था ब्रह्मलोकः फलरूपः। एवं प्रियां वाचमभिवदन्त्यो वहन्तीत्यर्थः। ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात् ॥ ६ ॥

वे दीप्तिमती आहुतियाँ 'आओ, आओ' इस प्रकार पुकारती तथा प्रिय यानी स्तुति आदिरूप इष्ट वाणी बोलकर उसका अर्चन—पूजन करती हुई अर्थात् 'यह तुम्हारे सुकृतका फलस्वरूप पवित्र ब्रह्मलोक है' इस प्रकार प्रिय वाणी कहती हुई उसे ले जाती हैं। यहाँ स्वर्गहीको ब्रह्मलोक कहा है, क्योंकि प्रकरणसे यही ठीक माछ्म होता है ॥६॥

ज्ञानरहित कर्मकी निन्दा

एतच्च ज्ञानरहितं कर्मैतावत्फलमविद्याकामकर्मकार्यमतोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते—

इस प्रकार यह ज्ञानरहित कर्म इतने ही फलवाला है। यह अविद्या काम और कर्मका कार्य है; इसलिये असार और दुःखकी जड़ है, सो इसकी निन्दा की जाती है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

जिनमें [ज्ञानबाह्य होनेसे] अवर—निकृष्टकर्म आश्रित कहा गया है वे [सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमानपत्नी] ये अठारह यज्ञरूप (यज्ञके साधन) अस्थिर एवं नाशवान् बतलाये गये हैं। जो मूढ 'यही श्रेय है' इस प्रकार इनका अभिनन्दन करते हैं, वे फिर भी जरा-मरणको प्राप्त होते रहते हैं ॥ ७ ॥

प्लवा विनाशिन इत्यर्थः । हि यस्मादेतेऽदृढा अस्थिरा यज्ञरूपा यज्ञस्य रूपाणि यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्तका अष्टादशाष्टादशसंख्याकाः षोडशर्त्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश, एतदाश्रयं कर्मोक्तं कथितं शास्त्रेण, येष्वष्टादशस्ववरं केवलं ज्ञानवर्जितं कर्म; अतस्तेषामवरकर्माश्रयाणामष्टादशानामदृढतया प्लवत्वात्प्लवते सह फलेन तत्साध्यं कर्म; कुण्डविनाशादिव क्षीरदध्यादीनां तत्स्थानां नाशः ।

'प्लव' का अर्थ विनाशी है । क्योंकि सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और पत्नी—ये अठारह यज्ञरूप—यज्ञके रूप यानी यज्ञके सम्पादक, जिनमें केवल ज्ञानरहित कर्म आश्रित है, अदृढ—अस्थिर हैं और शास्त्रोंमें इन्हींके आश्रित कर्म बतलाया है; अतः उस अवर कर्मके उन अठारह आश्रयोंके अदृढतावश प्लव अर्थात् विनाशशील होनेके कारण उनसे निष्पन्न होनेवाला कर्म, कूँडेके नाशसे उसमें रखे हुए दूध और दही आदिके नाशके समान, नष्ट हो जाता है ।

यत एवमेतत्कर्म श्रेयः श्रेयःकरणमिति येऽभिनन्दन्त्यभिहृष्यन्त्यविवेकिनो मूढा अतस्ते जरां च मृत्युं च जरामृत्युं किञ्चित्कालं स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यन्ति-भूयोऽपि गच्छन्ति ॥७॥

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये जो अविवेकी मूढ पुरुष 'यह कर्म श्रेय यानी श्रेयका साधन है' ऐसा मानकर अभिनन्दित—अत्यन्त हर्षित होते हैं वे इस (हर्ष) के द्वारा जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं; अर्थात् कुछ समय स्वर्गमें रहकर फिर भी उसी जन्म-मरणको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

अविद्याग्रस्त कर्मठोंकी दुर्दशा

किञ्च— | तथा—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥

अविद्याके मध्यमें रहनेवाले और अपनेको बड़ा बुद्धिमान् तथा पण्डित माननेवाले वे मूढ पुरुष अन्धेसे ले जाये जाते हुए अन्धेके समान पीडित होते सब ओर भटकते रहते हैं ॥ ८ ॥

अविद्यायामन्तरे मध्ये वर्तमाना अविवेकप्रायाः स्वयं वयमेव धीरा धीमन्तः पण्डिता विदितवेदितव्याश्चेति मन्यमाना आत्मानं सम्भावयन्तस्ते च जङ्घन्यमाना जरारोगाद्यनेकानर्थव्रातैः हन्यमाना भृशं पीड्यमानाः परियन्ति विभ्रमन्ति मूढाः। दर्शनवर्जितत्वादन्धेनैवाचक्षुष्केणैव नीयमानाः प्रदर्श्यमानमार्गा यथा लोकेऽन्धा अक्षिरहिता गर्तकण्टकादौ पतन्ति तद्वत् ॥ ८ ॥

अविद्याके मध्यमें रहनेवाले बहुधा अविवेकी किन्तु 'हम ही बड़े बुद्धिमान् और पण्डित—ज्ञेय वस्तुको जाननेवाले हैं' ऐसा मानकर अपनेको सम्मानित करनेवाले वे मूढ पुरुष—जरा-रोग आदि अनेक अनर्थजालसे जङ्घन्यमान—हन्यमान अर्थात् अत्यन्त पीडित होते सब ओर घूमते—भटकते रहते हैं। जिस प्रकार लोकमें दृष्टिहीन होनेके कारण अन्धे अर्थात् नेत्रहीनसे ले जाये जाते हुए—मार्ग प्रदर्शित किये जाते हुए अन्धे—नेत्रहीन पुरुष गड्ढे और काँटे आदिमें गिरते रहते हैं उसी प्रकार [वे भी पीडा-पर-पीडा उठाते रहते हैं] ॥८॥

किञ्च— | तथा—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-
त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥

बहुधा अविद्यामें ही रहनेवाले वे मूर्खलोग 'हम कृतार्थ हो गये हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं । क्योंकि कर्मठलोगोंको कर्मफल-विषयक रागके कारण तत्त्वका ज्ञान नहीं होता, इसलिये वे दुःखार्त्त होकर [कर्मफल क्षीण होनेपर] स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं ॥ ९ ॥

अविद्यायां बहुधा बहुप्रकारं वर्तमाना वयमेव कृतार्थाः कृतप्रयोजना इत्येवमभिमन्यन्त्यभिमानं कुर्वन्ति बाला अज्ञानिनः । यद्यस्मादेवं कर्मिणो न प्रवेदयन्ति तत्त्वं न जानन्ति रागात्कर्मफलरागाभिभवनिमित्तं तेन कारणेन आतुरा दुःखार्ताः सन्तः क्षीणलोकाः क्षीणकर्मफलाः स्वर्गलोकाच्च्यवन्ते ॥ ९ ॥

अविद्यामें बहुधा—अनेक प्रकारसे विद्यमान वे अज्ञानी पुरुष 'केवल हम ही कृतार्थ—कृतकृत्य हो गये हैं' इसी प्रकार अभिमान किया करते हैं । क्योंकि इस प्रकार वे कर्मीलोग रागवश यानी कर्मफल-सम्बन्धी रागसे बुद्धिके अभिभूत हो जानेके कारण तत्त्वको नहीं जान पाते इसलिये वे आतुर—दुःखार्त्त होकर कर्मफल क्षीण हो जानेपर स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं ॥ ९ ॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ १० ॥

इष्ट और पूर्त कर्मोंको ही सर्वोत्तम माननेवाले वे महामूढ किसी अन्य वस्तुको श्रेयस्कर नहीं समझते। वे स्वर्गलोकके उच्च स्थानमें अपने कर्मफलोंका अनुभव कर इस [मनुष्य] लोक अथवा इससे भी निकृष्ट लोकमें प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

इष्टं यागादि श्रौतं कर्म, पूर्तं वापीकूपतडागादि स्मार्तं मन्यमाना एतदेवातिशयेन पुरुषार्थसाधनं वरिष्ठं प्रधानमिति चिन्तयन्तोऽन्यदात्मज्ञानाख्यं श्रेयःसाधनं न वेदयन्ते न जानन्ति, प्रमूढाः पुत्रपशुबन्ध्वादिषु प्रमत्ततया मूढाः। ते च नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठ उपरिस्थाने सुकृते भोगायतनेऽनुभूत्वानुभूय कर्मफलं पुनरिमं लोकं मानुषमस्माद्धीनतरं वा तिर्यङ्नरकादिलक्षणं यथाकर्मशेषं विशन्ति ॥१०॥

इष्ट यानी यागादि श्रौतकर्म और पूर्त—वापी-कूप-तडागादि स्मार्त कर्म 'ये ही अधिकतासे पुरुषार्थके साधन हैं, अतः ये ही सर्वश्रेष्ठ यानी प्रधान हैं' इस प्रकार मानते अर्थात् चिन्तन करते हुए वे प्रमूढ—प्रमत्ततावश पुत्र, पशु और बान्धवादिमें मूढ हुए लोग आत्मज्ञानसंज्ञक किसी और श्रेयःसाधनको नहीं जानते। वे नाक यानी स्वर्गके पृष्ठ—उच्च स्थानमें अपने सुकृत—भोगायतन (पुण्यभोगके लिये प्राप्त हुए दिव्य देह) में कर्मफलका अनुभव कर अपने अवशिष्ट कर्मानुसार फिर इसी मनुष्यलोक अथवा इससे निकृष्टतर तिर्यङ्नरकादिरूप योनियोंमें प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥

किन्तु जो शान्त और विद्वान्लोग वनमें रहकर भिक्षावृत्तिका आचरण करते हुए तप और श्रद्धाका सेवन करते हैं वे पापरहित होकर सूर्यद्वार (उत्तरायणमार्ग) से वहाँ जाते हैं जहाँ वह अमृत और अव्यय-स्वरूप पुरुष रहता है ॥ ११ ॥

ये पुनस्तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनश्च तपःश्रद्धे हि तपः स्वाश्रमविहितं कर्म श्रद्धा हिरण्यगर्भादिविषया विद्या; ते तपःश्रद्धे उपवसन्ति सेवन्तेऽरण्ये वर्तमानाः सन्तः; शान्ता उपरतकरणग्रामाः, विद्वांसो गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधाना इत्यर्थः। भैक्ष्यचर्यां चरन्तः परिग्रहाभावादुपवसन्त्यरण्य इति सम्बन्धः सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षितेनोत्तरायणेन पथा ते विरजा विरजसः क्षीणपुण्यपापकर्माणः सन्त इत्यर्थः; प्रयान्ति प्रकर्षेण यान्ति यत्र यस्मिन्सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्ययात्माव्ययस्वभावो यावत्संसारस्थायी। एतदन्तास्तु संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः।

किन्तु इसके विपरीत जो ज्ञानसम्पन्न वानप्रस्थ और संन्यासी लोग तप और श्रद्धाका—अपने आश्रमविहित कर्मका नाम 'तप' है और हिरण्यगर्भादिविषयक विद्याको 'श्रद्धा' कहते हैं, उन तप और श्रद्धाका वनमें रहकर सेवन करते हैं; तथा जो शान्त—जिनकी इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त हो गयी हैं ऐसे विद्वान्लोग तथा ज्ञान-प्रधान गृहस्थलोग परिग्रह न करनेके कारण भिक्षाचर्याका आचरण करते हुए वनमें रहते हैं वे विरज अर्थात् जिनके पाप-पुण्य क्षीण हो गये हैं ऐसे होकर सूर्यद्वारसे—सूर्योपलक्षित उत्तरमार्गसे वहाँ प्रयाण करते—प्रकर्षतः गमन करते हैं जहाँ—जिस सत्यलोकादिमें वह अमृत और अव्ययात्मा—संसारकी स्थितिपर्यन्त रहनेवाला अव्यय-स्वभाव पुरुष अर्थात् सबसे पहले उत्पन्न हुआ हिरण्यगर्भ रहता है। अपरा विद्यासे प्राप्त होनेवाली सांसारिक गतियाँ तो बस यहींतक हैं।

ननु–एतं मोक्षमिच्छन्ति केचित् ।

न; "इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः" (मु० उ० ३ । २ । २) "ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति" (मु० उ० ३ । २ । ५) इत्यादि-श्रुतिभ्योऽप्रकरणाच्च । अपर-विद्याप्रकरणे हि प्रवृत्ते न ह्यक-स्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति । विरज-स्त्वं त्वापेक्षिकम् । समस्तमपर-विद्याकार्यं साध्यसाधनलक्षणं क्रियाकारकफलभेदभिन्नं द्वैतम् एतावदेव यद्धिरण्यगर्भप्राप्त्यव-सानम् । तथा च मनुनोक्तं स्था-वराद्यां संसारगतिमनुक्रामता "ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महान-व्यक्तमेव च । उत्तमां सात्त्वि-

शङ्का–परन्तु कोई-कोई तो इसीको मोक्ष समझते हैं ?

समाधान–ऐसा समझना उचित नहीं है । "उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ यहीं लीन हो जाती हैं" "वे संयतचित्त धीर पुरुष उस सर्वगत ब्रह्मको सब ओर प्राप्तकर सभीमें प्रवेश कर जाते हैं" इत्यादि श्रुतियोंसे [ब्रह्म-वेत्ताको इसी लोकमें सम्पूर्ण कामना-ओंसे मुक्ति और सर्वात्मभावकी प्राप्ति बतलायी गयी है] । इसके सिवा यह मोक्षका प्रकरण भी नहीं है । अपरा विद्याके प्रकरणके चालू रहते हुए अकस्मात् मोक्षका प्रसङ्ग नहीं आ सकता । और उसकी विरजस्कता (निष्पापता) तो आपेक्षिक है । अपरा विद्याका समस्त कार्य साध्य-साधनरूप, क्रिया-कारक और फलरूप भेदोंसे भिन्न तथा द्वैतमय होनेसे इतना ही है जिसका कि हिरण्यगर्भकी प्राप्तिमें ही पर्यवसान होता है । स्थावरोंसे लेकर क्रमशः संसारगतिकी गणना करते हुए मनुजीने भी ऐसा ही कहा है—"ब्रह्मा, मरीचि आदि प्रजापतिगण, यमराज, महत्तत्त्व और अव्यक्त [इनके लोकोंको प्राप्त

कीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" (मनु० १२।५०) इति ॥ ११ ॥

होना]—यह विद्वानोंने उत्तम सात्त्विकी गति बतलायी है" ॥ ११ ॥

ऐहिक और पारलौकिक भोगोंकी असारता देखनेवाले पुरुषके लिये संन्यास और गुरूपसदनका विधान

अथेदानीमस्मात्साध्यसाधनरूपात्सर्वस्मात्संसाराद्विरक्तस्य परस्यां विद्यायामधिकारप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

तत्पश्चात् अब इस साध्य-साधनरूप सम्पूर्ण संसारसे विरक्त हुए पुरुषका परा विद्यामें अधिकार दिखानेके लिये यह कहा जाता है—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

कर्मद्वारा प्राप्त हुए लोकोंकी परीक्षा कर ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो जाय, [क्योंकि संसारमें] अकृत (नित्य पदार्थ) नहीं है, और कृतसे [हमें प्रयोजन क्या है ?] अतः उस नित्य वस्तुका साक्षात् ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तो हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके ही पास जाना चाहिये ॥ १२ ॥

परीक्ष्य यदेतदृग्वेदाद्यपरविद्याविषयं स्वाभाविक्यविद्याकामकर्मदोषवत्पुरुषानुष्ठेयम् अविद्यादिदोषवन्तमेव पुरुषं प्रति विहितत्वात्तदनुष्ठानकार्यभूताश्च

यह जो ऋग्वेदादि अपरविद्याविषयक, तथा अविद्यादि दोषयुक्त पुरुषके लिये ही विहित होनेके कारण स्वभावसे ही अविद्या काम और कर्मरूप दोषसे युक्त पुरुषोंद्वारा अनुष्ठान किये जानेयोग्य कर्म है तथा उसके अनुष्ठानके कार्यभूत

लोका ये दक्षिणोत्तरमार्गलक्षणाः फलभूताः, ये च विहिताकरण-प्रतिषेधातिक्रमदोषसाध्या नरक-तिर्यक्प्रेतलक्षणास्तानेतान्परीक्ष्य प्रत्यक्षानुमानोपमानागमैः सर्वतो याथात्म्येनावधार्य । लोकान् संसारगतिभूतान् अव्यक्तादि-स्थावरान्तान्व्याकृताव्याकृत-लक्षणान् बीजाङ्कुरवदितरेतरोत्प-त्तिनिमित्ताननेकानर्थशतसहस्र-सङ्कुलान्कदलीगर्भवदसारान् मायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकार-स्वप्नजलबुद्बुदफेनसमान्प्रति-क्षणप्रध्वंसान्पृष्ठतः कृत्वाविद्या-कामदोषप्रवर्तितकर्मचितान्धर्मा-धर्मनिर्वर्तितानित्येतत् । ब्राह्मण-स्यैव विशेषतोऽधिकारः सर्वत्या-गेन ब्रह्मविद्यायामिति ब्राह्मण-ग्रहणम् । परीक्ष्य लोकान्किं कुर्यात्

अर्थात् फलस्वरूप दक्षिण एवं उत्तरमार्गरूप लोक हैं और विहित कर्मके न करने एवं प्रतिषिद्धके करनेके दोषसे प्राप्त होनेवाली जो नरक, तिर्यक् तथा प्रेतादि योनियाँ हैं उन इन सभीकी परीक्षा कर अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चारों प्रमाणोंसे सब प्रकार उनका यथावत् निश्चय कर जो बीज और अङ्कुरके समान एक-दूसरेकी उत्पत्तिके कारण हैं अनेकों—सैकड़ों-हजारों अनर्थोंसे व्याप्त हैं, केलेके भीतरी भागके समान सारहीन हैं, माया, मृगजल और गन्धर्वनगरके समान भ्रमपूर्ण तथा स्वप्न, जलबुद्बुद और फेनके सदृश क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं और अविद्या एवं कामरूप दोषसे प्रवर्तित कर्मोंसे प्राप्त यानी धर्मा-धर्मजनित हैं उन व्यक्त-अव्यक्तरूप तथा संसारगतिभूत अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त लोकोंकी ओरसे मुख मोड़कर ब्राह्मण [उनसे विरक्त हो जाय] । सर्व-त्यागके द्वारा ब्राह्मणका ही ब्रह्म-विद्यामें विशेषरूपसे अधिकार है; इसलिये यहाँ 'ब्राह्मण' पदका ग्रहण किया गया है । इस प्रकार लोकोंकी परीक्षा कर वह क्या करे, सो बत-

इत्युच्यते—निर्वेदं निःपूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे वैराग्यमायात्कुर्यादित्येतत् ।

स वैराग्यप्रकारः प्रदर्श्यते। इह संसारे नास्ति कश्चिदप्यकृतः पदार्थः। सर्व एव हि लोकाः कर्मचिताः कर्मकृतत्वाच्चानित्याः, न नित्यं किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः। सर्वं तु कर्मानित्यस्यैव साधनम्। यस्माच्चतुर्विधमेव हि सर्वं कर्म कार्यमुत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं वा, नातः परं कर्मणो विशेषोऽस्ति। अहं च नित्येन अमृतेनाभयेन कूटस्थेनाचलेन ध्रुवेणार्थेनार्थी न तद्विपरीतेन। अतः किं कृतेन कर्मणायासबहुलेनानर्थसाधनेनेत्येवं निर्विण्णोऽभयं शिवमकृतं नित्यं पदं यत्तद्विज्ञानार्थं विशेषेणाधिगमार्थं स निर्विण्णो ब्राह्मणो गुरुमेवाचार्यं शमदमदयादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण

जाते हैं—'निर्वेद करे'। यहाँ 'नि' पूर्वक 'विद्' धातु वैराग्य अर्थमें है; अतः तात्पर्य यह है कि 'वैराग्य करे'।

अब वह वैराग्यका प्रकार दिखलाया जाता है। इस संसारमें कोई भी अकृत (नित्य) पदार्थ नहीं है। सभी लोक कर्मसे सम्पादन किये जानेवाले हैं और कर्मकृत होनेके कारण अनित्य हैं। तात्पर्य यह कि इस संसारमें नित्य कुछ भी नहीं है। सारा कर्म अनित्य फलका ही साधन है। क्योंकि सारे कर्म, कार्य, उत्पाद्य, आप्य और विकार्य अथवा संस्कार्य चार ही प्रकारके हैं, इनसे भिन्न कर्मका और कोई प्रकार नहीं है। किन्तु मैं तो एक नित्य, अमृत, अभय, कूटस्थ, अचल और ध्रुव पदार्थकी इच्छा करनेवाला हूँ; उससे विपरीत स्वभाववालेकी मुझे आवश्यकता नहीं है। अतः इस श्रमबहुल एवं अनर्थके साधनभूत कृत—कर्मसे मुझे क्या प्रयोजन है? इस प्रकार विरक्त होकर जो अभय, शिव, अकृत और नित्यपद है उसके विज्ञानके लिये—विशेषतया जाननेके लिये वह विरक्त ब्राह्मण शम-दमादिसम्पन्न गुरु यानी आचार्यके पास ही जाय। शास्त्रज्ञ होनेपर भी स्वतन्त्रतापूर्वक ब्रह्मज्ञान-

ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद् गुरुमेवेत्यवधारणफलम् ।

का अन्वेषण न करे—यही 'गुरुमेव' इस पदसमूहमें आये हुए निश्चयात्मक 'एव' पदका अभिप्राय है ।

समित्पाणिः समिद्भारगृहीतहस्तः श्रोत्रियमध्ययनश्रुतार्थसम्पन्नं ब्रह्मनिष्ठम् । हित्वा सर्वकर्माणि केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्मनिष्ठो जपनिष्ठस्तपोनिष्ठ इति यद्वत् । न हि कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठता सम्भवति कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात् । स तं गुरुं विधिवदुपसन्नः प्रसाद्य पृच्छेदक्षरं पुरुषं सत्यम् ॥१२॥

समित्पाणिः अर्थात् हाथमें समिधाओंका भार लेकर श्रोत्रिय यानी अध्ययन और श्रवण किये अर्थसे सम्पन्न तथा ब्रह्मनिष्ठ [गुरुके पास जाय]—सम्पूर्ण कर्मोंको त्यागकर जिसकी केवल अद्वितीय ब्रह्ममें ही निष्ठा है वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है; जपनिष्ठ तपोनिष्ठ आदिके समान ही यह 'ब्रह्मनिष्ठ' शब्द है । कर्मठ पुरुषको ब्रह्मनिष्ठा कभी नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म और आत्मज्ञानका परस्पर विरोध है । इस प्रकार उन गुरुदेवके पास विधिपूर्वक जाकर उन्हें प्रसन्नकर सत्य और अक्षर पुरुषके सम्बन्धमें पूछे ॥ १२ ॥

गुरुके लिये उपदेशप्रदानकी विधि

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥

वह विद्वान् गुरु अपने समीप आये हुए उस पूर्णतया शान्तचित्त एवं जितेन्द्रिय शिष्यको उस ब्रह्मविद्याका तत्त्वतः उपदेश करे जिससे उस सत्य और अक्षर पुरुषका ज्ञान होता है ॥ १३ ॥

तस्मै स विद्वान् गुरुर्ब्रह्मविद् उपसन्नायोपगताय सम्यग्यथाशास्त्रमित्येतत्, प्रशान्तचित्ताय उपरतदर्पादिदोषाय शमान्विताय बाह्येन्द्रियोपरमेण च युक्ताय सर्वतो विरक्तायेत्येतत् । येन विज्ञानेन यया विद्यया परयाक्षरमद्रेश्यादिविशेषणं तदेवाक्षरं पुरुषशब्दवाच्यं पूर्णत्वात् पुरिशयनाच्च सत्यं तदेव परमार्थस्वाभाव्यादक्षरं चाक्षरणादक्षतत्वादक्षयत्वाच्च वेद विजानाति तां ब्रह्मविद्यां तत्त्वतो यथावत् प्रोवाच प्रब्रूयादित्यर्थः । आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्न्यायप्राप्तसच्छिष्यनिस्तारणमविद्यामहोदधेः ॥ १३ ॥

वह विद्वान्—ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आये हुए उस सम्यक्—यथाशास्त्र प्रशान्तचित्त—गर्व आदि दोषोंसे रहित तथा शमसम्पन्न—बाह्य इन्द्रियोंकी उपरतिसे युक्त और सब ओरसे विरक्त हुए शिष्यको, जिस विज्ञान अथवा जिस परा विद्यासे उस अद्रेश्यादि विशेषणवाले तथा पूर्ण होने या शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण 'पुरुष' शब्दवाच्य अक्षरको, जो क्षरण (च्युत होना) क्षत (व्रण) और क्षय (नाश) से रहित होनेके कारण 'अक्षर' कहलाता है, जानता है उस ब्रह्मविद्याका तत्त्वतः—यथावत् उपदेश करे—यह इसका भावार्थ है । आचार्यके लिये भी यही नियम है कि न्यायानुसार अपने समीप आये हुए सच्छिष्यको अविद्यामहासमुद्रसे पार कर दे ॥ १३ ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्तमिदं प्रथमं मुण्डकम् ।

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

अपरविद्यायाः सर्वं कार्यम् उक्तम् । स च संसारो यत्सारो यस्मान्मूलादक्षरात् सम्भवति यस्मिंश्च प्रलीयते तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यम् । यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति तत्परस्या ब्रह्मविद्याया विषयः स वक्तव्य इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते—

वक्ष्यमाणग्रन्थस्य प्रयोजनम्

यहाँतक अपरा विद्याका सारा कार्य कहा । यही संसार है; उसका जो सार है, जिस अपने मूलभूत अक्षरसे वह उत्पन्न होता है और जिसमें उसका लय होता है वह पुरुषसंज्ञक अक्षरब्रह्म ही सत्य है, जिसका ज्ञान होनेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है, वह परा विद्याका विषय है । उसे बतलाना है, इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

अग्निसे स्फुलिङ्गोंके समान ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ १ ॥

वह यह (अक्षरब्रह्म) सत्य है । जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्निसे उसीके समान रूपवाले हजारों स्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) निकलते हैं, हे सोम्य ! उसी प्रकार उस अक्षरसे अनेकों भाव प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं ॥ १ ॥

यदपरविद्याविषयं कर्मफललक्षणं सत्यं तदापेक्षिकम्। इदं तु परविद्याविषयं परमार्थसल्लक्षणत्वात्। तदेतत्सत्यं यथाभूतं विद्याविषयम्, अविद्याविषयत्वाच्चानृतमितरत्। अत्यन्तपरोक्षत्वात्कथं नाम प्रत्यक्षवत्सत्यम् अक्षरं प्रतिपद्येरन्निति दृष्टान्तमाह—

यथा सुदीप्तात्सुष्ठु दीप्ताद् इद्धात्पावकादग्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्न्यवयवाः सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपा अग्निसलक्षणा एव तथोक्तलक्षणात् अक्षराद्विविधा नानादेहोपाधिभेदमनुविधीयमानत्वाद्विविधा हे सोम्य भावा जीवा आकाशादिव घटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदा घटाद्युपाधिप्रभेदमनुभवन्ति, एवं नानानामरूपकृतदेहोपाधि-

जो अपरा विद्याका विषय कर्मफलरूप सत्य है वह आपेक्षिक है; परन्तु यह परा विद्याका विषय परमार्थसत्स्वरूप होनेके कारण [निरपेक्ष सत्य है]। वह यह विद्याविषयक सत्य ही यथार्थ सत्य है; इससे इतर तो अविद्याका विषय होनेके कारण मिथ्या है। उस सत्य अक्षरको अत्यन्त परोक्ष होनेके कारण किस प्रकार प्रत्यक्षवत् जानें ? इसके लिये श्रुतिने यह दृष्टान्त दिया है—

जिस प्रकार सुदीप्त—अच्छी-तरह दीप्त अर्थात् प्रज्वलित हुए अग्निसे उसीके-से रूपवाले सहस्रों—अनेकों विस्फुलिङ्ग—अग्निके अवयव निकलते हैं उसी प्रकार हे सोम्य! उक्त लक्षणवाले अक्षर ब्रह्मसे विविध—अनेक देहरूप उपाधिभेदके अनुसार विहित होनेके कारण अनेक प्रकारके भाव—जीव उस नाना नाम-रूपकृत देहोपाधिके जन्मके साथ उसी प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं जैसे घटादि उपाधिभेदके अनुसार आकाशसे उन घटादिसे परिच्छिन्न बहुतसे छिद्र (घटाकाशादि)।

प्रभवमनुप्रजायन्ते तत्र चैव तस्मिन्नेवाक्षरेऽपियन्ति देहोपाधिविलयमनुलीयन्ते घटादिविलयसन्विव सुषिरभेदाः ।

तथा जिस प्रकार घटादिके नष्ट होनेपर वे [घटाकाशादि] छिद्र लीन हो जाते हैं उसी प्रकार देहरूप उपाधिके लीन होनेपर वे सब उस अक्षरमें ही लीन हो जाते हैं ।

यथाकाशस्य सुषिरभेदोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वं घटाद्युपाधिकृतमेव तद्वदक्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जीवोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वम् ॥१॥

जिस प्रकार छिद्रभेदोंकी उत्पत्ति और प्रलयमें आकाशका निमित्तत्व घटादि उपाधिके ही कारण है उसी प्रकार जीवोंकी उत्पत्ति और प्रलयमें नामरूपकृत देहोपाधिके कारण ही अक्षरब्रह्मका निमित्तत्व है ॥ १ ॥

नामरूपबीजभूतादव्याकृताख्यात्स्वविकारापेक्षया परादक्षरात्परं यत्सर्वोपाधिभेदवर्जितम् अक्षरस्यैव स्वरूपमाकाशस्येव सर्वमूर्तिवर्जितं नेति नेतीत्यादिविशेषणं विवक्षन्नाह—

अपने विकारोंकी अपेक्षा महान् तथा नामरूपके बीजभूत अव्याकृतसंज्ञक अक्षरसे भी उत्कृष्ट जो अक्षर परमात्माका आकाशके समान सब प्रकारके आकारोंसे रहित 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे विशेषित एवं सम्पूर्ण औपाधिक भेदोंसे रहित स्वरूप है उसे बतलानेकी इच्छासे, श्रुति कहती है—

ब्रह्मका पारमार्थिकस्वरूप

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २ ॥

[वह अक्षर ब्रह्म] निश्चय ही दिव्य, अमूर्त्त, पुरुष, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं कार्यवर्गकी अपेक्षा श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है ॥ २ ॥

दिव्यो द्योतनवान्स्वयंज्योतिष्ट्वात् । दिवि वा स्वात्मनि भवोऽलौकिको वा । हि यस्मादमूर्तः सर्वमूर्तिवर्जितः पुरुषः पूर्णः पुरिशयो वा, दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तत इति । अजो न जायते कुतश्चित्स्वतोऽन्यस्य जन्मनिमित्तस्य चाभावात्; यथा जलबुद्बुदादेर्वाय्वादि, यथा नभःसुषिरभेदानां घटादि। सर्वभावविकाराणां जनिमूलत्वात् तत्प्रतिषेधेन सर्वे प्रतिषिद्धा भवन्ति । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽतोजरोऽमृतोऽक्षरो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः ।

[वह अक्षरब्रह्म] स्वयंप्रकाश होनेके कारण दिव्य—प्रकाशित होनेवाला है, अथवा दिवि—अपने स्वरूपमें ही स्थित या अलौकिक है; क्योंकि वह अमूर्त्त—सब प्रकारके आकारसे रहित, पुरुष—पूर्ण अथवा शरीररूप पुरमें शयन करनेवाला, सबाह्याभ्यन्तर—बाहर और भीतरके सहित सर्वत्र वर्तमान और अज—जो किसीसे उत्पन्न न हो—ऐसा है; क्योंकि अपनेसे भिन्न कोई उसके जन्मका निमित्त है ही नहीं; जिस प्रकार कि जलसे उत्पन्न होनेवाले बुद्बुदोंका कारण वायु आदि है तथा घटाकाशादि भेदोंका हेतु घट आदि पदार्थ हैं [उसी प्रकार उस अजन्माके जन्मका कोई भी कारण नहीं है] । वस्तुके सारे विकारोंका मूल जन्म ही है; अतः उस (जन्म) का प्रतिषेध कर दिये जानेपर वे सभी प्रतिषिद्ध हो जाते हैं । क्योंकि वह परमात्मा सबाह्याभ्यन्तर अज है इसलिये वह अजर, अमर, अक्षर, ध्रुव और भयशून्य है—यह इसका तात्पर्य है ।

यद्यपि देहाद्युपाधिभेददृष्टीनामविद्यावशाद्देहभेदेषु सप्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय इव प्रत्यवभासते तलमलादिमदिव आकाशं तथापि तु स्वतः परमार्थदृष्टीनामप्राणोऽविद्यमानः क्रियाशक्तिभेदवांश्चलनात्मको वायुर्यस्मिन्नसावप्राणः। तथामना अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्सङ्कल्पाद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं यस्मिन्सोऽयम् अमनाः। अप्राणो ह्यमनाश्चेति प्राणादिवायुभेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च तथा च बुद्धिमनसी बुद्धीन्द्रियाणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः। तथा श्रुत्यन्तरे—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४।३।७) इति।

जिस प्रकार [दृष्टिदोषसे] आकाश तल-मलादियुक्त भासता है उसी प्रकार देहादि उपाधिभेदमें दृष्टि रखनेवालोंको यद्यपि विभिन्न देहोंमें [वह अक्षर ब्रह्म] प्राण, मन, इन्द्रिय एवं विषयसे युक्त-सा भासता है तो भी परमार्थस्वरूपदर्शियोंको तो वह अप्राण—जिसमें क्रियाशक्तिभेदवाला चलनात्मक वायु न रहता हो तथा अमना—जिसमें ज्ञानशक्तिके अनेकों भेदवाला सङ्कल्पादिरूप मन भी न हो, [इस प्रकार प्राण और मनसे रहित ही भासता है।] 'अप्राणः' और 'अमनाः' इन दोनों विशेषणोंसे प्राणादि वायुभेद, कर्मेन्द्रियाँ और उनके विषय तथा बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय प्रतिषिद्ध हुए समझने चाहिये; जैसा कि एक दूसरी श्रुति उसे 'मानो ध्यान करता हुआ-सा, मानो चेष्टा करता हुआ-सा'—ऐसा बतलाती है।

यस्माच्चैवं प्रतिषिद्धोपाधिद्वयः तस्माच्छुभ्रः शुद्धः। अतोऽक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्व-

इस प्रकार क्योंकि वह [प्राण और मन इन] दोनों उपाधियोंसे रहित है इसलिये वह शुभ्र—शुद्ध है। अतः नाम-रूपकी बीजभूत उपाधिसे जिसका स्वरूप लक्षित

रूपात्सर्वकार्यकरणबीजत्वेनोपलक्ष्यमाणत्वात्परं तदुपाधिलक्षणमव्याकृताख्यमक्षरं सर्वविकारेभ्यः तस्मात्परतोऽक्षरात्परो निरुपाधिकः पुरुष इत्यर्थः ।

होता है उस अक्षरसे—सम्पूर्ण कार्य-करणके बीजरूपसे उपलक्षित होनेके कारण उन उपाधियोंवाला अव्याकृतसंज्ञक वह अक्षर अपने सम्पूर्ण विकारसे श्रेष्ठ है; उस सर्वोत्कृष्ट अक्षरसे भी वह निरुपाधिक पुरुष उत्कृष्ट है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

यस्मिंस्तदाकाशाख्यमक्षरं संव्यवहारविषयमोतं प्रोतं च कथं पुनरप्राणादिमत्त्वं तस्येत्युच्यते । यदि हि प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनात्मना सन्ति तदा पुरुषस्य प्राणादिना विद्यमानेन प्राणादिमत्त्वं भवेन्न तु ते प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनात्मना सन्ति तदा, अतोऽप्राणादिमान्परः पुरुषः; यथानुत्पन्ने पुत्रेऽपुत्रो देवदत्तः ॥ २ ॥

किन्तु जिसमें सम्पूर्ण व्यवहारका विषयभूत वह आकाशसंज्ञक अक्षरतत्त्व ओतप्रोत है वह प्राणादिसे रहित कैसे हो सकता है? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—यदि प्राणादि अपनी उत्पत्तिसे पूर्व भी पुरुषके समान स्वस्वरूपसे विद्यमान रहते तो उन विद्यमान प्राणादिके कारण पुरुषका प्राणादियुक्त होना माना जा सकता था। किन्तु उस समय वे अपनी उत्पत्तिसे पूर्व पुरुषके समान स्वरूपतः हैं नहीं; इसलिये, जिस प्रकार पुत्र उत्पन्न न होनेतक देवदत्त पुत्रहीन कहा जाता है उसी प्रकार परम पुरुष भी अप्राणादिमान् है ॥ २ ॥

ब्रह्मका सर्वकारणत्व

कथं ते न सन्ति प्राणादय इत्युच्यते यस्मात्—

वे प्राणादि उस अक्षरमें क्यों नहीं हैं? सो बतलाते हैं—क्योंकि—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

इस (अक्षर पुरुष) से ही प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसारको धारण करनेवाली पृथिवी [उत्पन्न होती है] ॥ ३ ॥

एतस्मादेव पुरुषान्नामरूपबीजोपाधिलक्षिताज्जायत उत्पद्यतेऽविद्याविषयविकारभूतो नामधेयोऽनृतात्मकः प्राणः "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) "अनृतम्" इति श्रुत्यन्तरात् । न हि तेनाविद्याविषयेणानृतेन प्राणेन सप्राणत्वं परस्य स्यादपुत्रस्य स्वप्नदृष्टेनेव पुत्रेण सपुत्रत्वम् । एवं मनः सर्वाणि चेन्द्रियाणि विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते ।

नाम-रूपकी बीजभूत [अविद्यारूप] उपाधिसे उपलक्षित* इस पुरुषसे ही अविद्याका विषय विकारभूत केवल नाममात्र तथा मिथ्या प्राण उत्पन्न होता है; जैसा कि "विकार वाणीका विलास और नाममात्र है" "वह मिथ्या है" ऐसी अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । उस अविद्याविषयक मिथ्या प्राणसे परब्रह्मका सप्राणत्व सिद्ध नहीं हो सकता, जैसे कि स्वप्नमें देखे हुए पुत्रसे पुत्रहीन व्यक्ति पुत्रवान् नहीं हो सकता ।

इस प्रकार मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और उनके विषय भी इसीसे उत्पन्न

---

* निरुपाधिक विशुद्ध ब्रह्मसे किसी भी विकारकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है । इसलिये जब उससे किसीकी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया जायगा तो उसमें अविद्या या मायाके सम्बन्धका आरोप करके ही किया जायगा ।

तस्मात्सिद्धमस्य निरुपचरितम् अप्राणादिमत्त्वमित्यर्थः। यथा च प्रागुत्पत्तेः परमार्थतोऽसन्तस्तथा प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्याः । यथा करणानि मनश्चेन्द्रियाणि तथा शरीरविषयकारणानि भूतानि खमाकाशं वायुरन्तर्बाह्य आवहादिभेदः, ज्योतिरग्निः, आप उदकम्, पृथिवी धरित्री विश्वस्य सर्वस्य धारिणी एतानि च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोत्तरोत्तर-गुणानि पूर्वपूर्वगुणसहितान्ये-तस्मादेव जायन्ते ॥ ३ ॥

होते हैं । अतः उसका मुख्यरूपसे अप्राणादिमान् होना सिद्ध हुआ । वे जिस प्रकार अपनी उत्पत्तिसे पूर्व वस्तुतः असत् ही थे उसी प्रकार लीन होनेपर भी असत् ही रहते हैं—ऐसा समझना चाहिये । जिस प्रकार करण—मन और इन्द्रियाँ [इससे उत्पन्न होते हैं] उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियोंके विषयोंके कारणस्वरूप भूतवर्ग आकाश, आवहादि भेदोंवाला बाह्य वायु, अग्नि, जल और विश्व यानी सबको धारण करनेवाली पृथिवी—ये पाँच भूत, जो पूर्व-पूर्व गुणके सहित उत्तरोत्तर क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन गुणोंसे युक्त हैं, उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

संक्षेपतः परविद्याविषयमक्षरं निर्विशेषं पुरुषं सत्यं दिव्यो ह्यमूर्त इत्यादिना मन्त्रेणोक्त्वा पुनस्तदेव सविशेषं विस्तरेण वक्तव्यमिति प्रवत्तते; संक्षेपविस्त-रोक्तो हि पदार्थः सुखाधिगम्यो

परविद्याके विषयभूत निर्विशेष सत्य पुरुषका 'दिव्यो ह्यमूर्तः' इत्यादि मन्त्रसे संक्षेपतः वर्णन कर अब उसी तत्त्वका सविशेषरूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन करना है—इसीके लिये यह श्रुति प्रवृत्त होती है; क्योंकि सूत्र और उसके भाष्यके समान [पहले] संक्षेपमें और [फिर] विस्तारपूर्वक कहा हुआ

भवति सूत्रभाष्योक्तिवदिति । योऽपि प्रथमजात्प्राणाद्धिरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट् स तत्त्वान्तरितत्वेन लक्ष्यमाणोऽप्येतस्मादेव पुरुषाज्जायत एतन्मयश्चेत्येतदर्थमाह। तं च विशिनष्टि—

पदार्थ सुगमतासे समझमें आ जाता है । जो ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती विराट् प्रथम उत्पन्न हुए प्राण यानी हिरण्यगर्भसे उत्पन्न होता है वह अन्य तत्त्वरूपसे लक्षित कराया जानेपर भी इस पुरुषसे ही उत्पन्न होता है और पुरुषरूप ही है—यही बात यह मन्त्र बतलाता है और उसके विशेषणोंका उल्लेख करता है—

सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्मका विश्वरूप

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

अग्नि (द्युलोक) जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, सारा विश्व जिसका हृदय है और जिसके चरणोंसे पृथिवी प्रकट हुई है वह देव सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

अग्निर्द्युलोकः "असौ वाव लोको गौतमाग्निः" (छा० उ० ५ । ४ । १) इति श्रुतेः, मूर्धा यस्योत्तमाङ्गं शिरः । चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्यश्चेति चन्द्रसूर्यौ

अग्नि अर्थात् "हे गौतम ! यह [स्वर्ग] लोक ही अग्नि है" इस श्रुतिके अनुसार द्युलोक ही जिसका मूर्धा—उत्तमाङ्ग यानी शिर है, चन्द्र-सूर्य यानी चन्द्रमा और सूर्य ही नेत्र हैं । इस मन्त्रमें

यस्येति सर्वत्रानुषङ्गः कर्तव्यः, अस्येत्यस्य पदस्य वक्ष्यमाणस्य यस्येति विपरिणामं कृत्वा । दिशः श्रोत्रे यस्य । वाग्विवृता उद्घाटिताः प्रसिद्धा वेदा यस्य । वायुः प्राणो यस्य । हृदयमन्तःकरणं विश्वं समस्तं जगदस्य यस्येत्येतत् । सर्वं ह्यन्तःकरणविकारमेव जगन्मनस्येव सुषुप्ते प्रलयदर्शनात् । जागरितेऽपि तत एवाग्निविस्फुलिङ्गवद्विप्रतिष्ठानात् । यस्य च पद्भ्यां जाता पृथिवी । एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथमशरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा ॥ ४ ॥

आगे कहे हुए 'अस्य' पदको 'यस्य' में परिणत कर उसकी सर्वत्र अनुवृत्ति करनी चाहिये । दिशाएँ जिसके कर्ण हैं, विवृत—उद्घाटित यानी प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी हैं, वायु जिसका प्राण है, विश्व—समस्त जगत् जिसका हृदय—अन्तःकरण है; सम्पूर्ण जगत् अन्तःकरणका ही विकार है, क्योंकि सुषुप्तिमें मनहीमें उसका प्रलय होता देखा जाता है और जाग्रत् अवस्थामें अग्निसे स्फुलिङ्गके समान उसे उसीसे निकलकर स्थित होता देखते हैं । तथा जिसके चरणोंसे पृथिवी उत्पन्न हुई है यह त्रैलोक्य-देहोपाधिक प्रथम शरीरी अनन्त देव विष्णु ही समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

स हि सर्वभूतेषु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता सर्वकारणात्मा पञ्चाग्निद्वारेण च याः संसरन्ति

सबका कारणरूप वह परमात्मा ही समस्त प्राणियोंमें द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है तथा पञ्चाग्निके द्वारा* जो प्रजाएँ जन्म-मृत्युरूप संसारको प्राप्त होती हैं वे भी

---

* स्वर्ग, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री इन पाँचोंका छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चम प्रपाठकके तृतीय खण्डमें पञ्चाग्निरूपसे वर्णन किया है ।

प्रजास्ता अपि तस्मादेव पुरुषात्प्रजायन्त इत्युच्यते—

उस पुरुषसे ही उत्पन्न होती हैं—यह बात अगले मन्त्रसे बतलायी जाती है—

अक्षर पुरुषसे चराचरकी उत्पत्तिका क्रम

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां
बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥

उस पुरुषसे ही, सूर्य जिसका समिधा है वह अग्नि उत्पन्न हुआ है । [उस द्युलोकरूप अग्निसे निष्पन्न हुए] सोमसे मेघ और [मेघसे] पृथिवीतलमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं । पुरुष स्त्रीमें [ओषधियोंसे उत्पन्न हुआ] वीर्य सींचता है; इस प्रकार पुरुषसे ही यह बहुत-सी प्रजा उत्पन्न हुई है ॥ ५ ॥

तस्मात्परस्मात्पुरुषात्प्रजावस्थानविशेषरूपोऽग्निः । स विशेष्यते; समिधो यस्य सूर्यः समिध इव समिधः । सूर्येण हि द्युलोकः समिध्यते । ततो हि द्युलोकान्निष्पन्नात् सोमात्पर्जन्यो द्वितीयोऽग्निः सम्भवति । तस्माच्च पर्जन्यात् ओषधयः पृथिव्यां सम्भवन्ति । ओषधिभ्यः पुरुषाग्नौ हुताभ्य उपादानभूताभ्यः। पुमानग्नी रेतः

उस परम पुरुषसे प्रजाका अवस्थाविशेषरूप अग्नि उत्पन्न हुआ । उसकी विशेषता बतलाते हैं—सूर्य जिसका समिधा (ईंधन) है—[अग्निहोत्रके] समिधाके समान ही समिधा है, क्योंकि सूर्यसे ही द्युलोक समिद्ध (प्रदीप्त) होता है । उस द्युलोकरूप अग्निसे निष्पन्न हुए सोमसे [पञ्चाग्नियोंमें] दूसरा अग्नि मेघ उत्पन्न होता है । फिर उस मेघसे पृथिवीतलमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं । पुरुषरूप अग्निमें हवन की हुई वीर्यकी कारणरूप ओषधियोंसे [वीर्य होता है] । उस

सिञ्चति योषितायां योषिति योषाग्नौ स्त्रियामिति । एवं क्रमेण, बह्वीर्बह्वयः प्रजा ब्राह्मणाद्याः पुरुषात्परस्मात्सम्प्रसूताः समुत्पन्नाः ॥ ५ ॥

वीर्यको पुरुषरूप अग्नि योषित—योषिद्रूप अग्नि यानी स्त्रीमें सींचता है। इस क्रमसे यह ब्राह्मणादिरूप बहुत-सी प्रजा परम पुरुषसे ही उत्पन्न हुई है ॥ ५ ॥

कर्म और उनके साधन भी पुरुषप्रसूत ही हैं

किं च कर्मसाधनानि फलानि च तस्मादेवेत्याह; कथम् ?

यही नहीं, कर्मके साधन और फल भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा श्रुति कहती है—सो किस प्रकार ?

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

उस पुरुषसे ही ऋचाएँ; साम, यजुः, दीक्षा, सम्पूर्ण यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान, लोक और जहाँतक चन्द्रमा पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है वे लोक उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥

तस्मात्पुरुषादृचो नियताक्षरपादावसाना गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा मन्त्राः । साम पाञ्चभक्तिकं च साप्तभक्तिकं च स्तोभादिगीतविशिष्टम् । यजूंषि

उस पुरुषसे ही ऋचाएँ—जिनके पाद नियत अक्षरोंमें समाप्त होनेवाले हैं वे गायत्री आदि छन्दोंवाले मन्त्र, साम—पाञ्चभक्तिक अथवा साप्तभक्तिक स्तोभादि* गानविशिष्ट मन्त्र तथा यजुः—

* जिस मन्त्रमें हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन—ये पाँच अवयव रहते हैं उसे 'पाञ्चभक्तिक' और जिसमें उपद्रव तथा आदि—ये दो अवयव और होते हैं उसे 'साप्तभक्तिक' कहते हैं। 'हुं फट्' आदि अर्थशून्य वर्णोंका नाम 'स्तोभ' है।

अनियतांक्षरपादावसानानि वाक्यरूपाण्येवं त्रिविधा मन्त्राः। दीक्षा मौञ्ज्यादिलक्षणा कर्तृनियमविशेषाः। यज्ञाश्च सर्वेऽग्निहोत्रादयः। क्रतवः सयूपाः। दक्षिणाश्चैकगवाद्यपरिमितसर्वस्वान्ताः। संवत्सरश्च कालः कर्माङ्गः। यजमानश्च कर्ता। लोकास्तस्य कर्मफलभूतास्ते विशेष्यन्ते; सोमो यत्र येषु लोकेषु पवते पुनाति लोकान्यत्र येषु सूर्यस्तपति च ते च दक्षिणायनोत्तरायणमार्गद्वयगम्या विद्वदविद्वत्कर्तृफलभूताः ॥ ६ ॥

जिनके पादोंका अन्त नियमित अक्षरोंमें नहीं होता ऐसे वाक्यरूप मन्त्र—इस प्रकार ये तीनों प्रकारके मन्त्र [उत्पन्न हुए हैं। तथा उसीसे] दीक्षा—मौञ्जी-बन्धन आदि यज्ञकर्ताके नियमविशेष, अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण यज्ञ, क्रतु—यूपसहित यज्ञ, दक्षिणा—एक गौसे लेकर अपने अपरिमित सर्वस्वदानपर्यन्त, संवत्सर—कर्मका अङ्गभूत काल, यजमान—यज्ञकर्ता, तथा उसके कर्मके फलस्वरूप लोक उत्पन्न हुए हैं। उन लोकोंकी विशेषताएँ बतलाते हैं—जिन लोकोंमें चन्द्रमा लोकोंको पवित्र करता है और जिनमें सूर्य तपता रहता है वे विद्वान् और अविद्वान् कर्ताके कर्मफलभूत दक्षिणायन-उत्तरायण इन दो मार्गसे प्राप्त होनेवाले लोक उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

उससे ही [कर्मके अङ्गभूत] बहुत-से देवता उत्पन्न हुए। तथा साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि [ये सब भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं] ॥ ७ ॥

तस्माच्च पुरुषात्कर्माङ्गभूता देवा बहुधा वस्वादिगणभेदेन सम्प्रसूताः सम्यक्प्रसूताः। साध्या देवविशेषाः। मनुष्याः कर्माधिकृताः। पशवो ग्राम्यारण्याः। वयांसि पक्षिणः। जीवनं च मनुष्यादीनां प्राणापानौ व्रीहियवौ हविरर्थौ। तपश्च कर्माङ्गं पुरुषसंस्कारलक्षणं स्वतन्त्रं च फलसाधनम्। श्रद्धा यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थसाधनप्रयोगश्चित्तप्रसाद आस्तिक्यबुद्धिस्तथा सत्यम् अनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम्। ब्रह्मचर्यं मैथुनासमाचारः। विधिश्चेतिकर्तव्यता ॥ ७ ॥

उस पुरुषसे ही वसु आदि गणके भेदसे कर्मके अंगभूत बहुत-से देवता उत्पन्न हुए हैं। तथा साध्यगण—देवताओंकी जातिविशेष, कर्मके अधिकारी मनुष्य, गाँव और जङ्गलमें रहनेवाले पशु, वयस्—पक्षी, मनुष्यके जीवनरूप प्राण-अपान (श्वासोच्छ्वास) हविके लिये व्रीहि और यव, पुरुषका संस्कार करनेवाला तथा स्वतन्त्रतासे फल देनेवाला कर्मका अंगभूत तप, श्रद्धा—जिसके कारण सम्पूर्ण पुरुषार्थसाधनोंका प्रयोग, चित्तप्रसाद और आस्तिक्यबुद्धि होती है, तथा सत्य—मिथ्याका त्याग एवं यथार्थ और किसीको पीडा न देनेवाला वचन, ब्रह्मचर्य—मैथुन न करना और ऐसा करना चाहिये—इस प्रकारकी विधि [ये सब भी उस पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं] ॥७॥

इन्द्रिय, विषय और इन्द्रियस्थानादि भी ब्रह्मजनित ही हैं

किं च— तथा—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

उस पुरुषसे ही सात प्राण (मस्तकस्थ सात इन्द्रियाँ) उत्पन्न हुए हैं। उसीसे उनकी सात दीप्तियाँ, सात समिधा (विषय), सात होम (विषयज्ञान) और जिनमें वे सञ्चार करते हैं वे सात स्थान प्रकट हुए हैं। [इस प्रकार] प्रतिदेहमें स्थापित ये सात-सात पदार्थ [उस पुरुषसे ही हुए हैं] ॥ ८ ॥

सप्त शीर्षण्याः प्राणास्तस्मादेव पुरुषात्प्रभवन्ति। तेषां च सप्तार्चिषो दीप्तयः स्वविषयावद्योतनानि। तथा सप्त समिधः सप्त विषयाः, विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः। सप्त होमास्तद्विषयविज्ञानानि "यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति" (महानारा० २५। १) इति श्रुत्यन्तरात्।

[दो नेत्र, दो श्रवण, दो घ्राण और एक रसना—ये] सात मस्तकस्थ प्राण उसी पुरुषसे उत्पन्न होते हैं। तथा अपने-अपने विषयोंको प्रकाशित करनेवाली उनकी सात दीप्तियाँ, सात समिध—उनके सात विषय, क्योंकि प्राण (इन्द्रियवर्ग) अपने विषयोंसे ही समिद्ध (प्रदीप्त) हुआ करते हैं। सात होम अर्थात् अपने विषयोंके विज्ञान, जैसा कि "इसका जो विज्ञान है उसीको हवन करता है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है, [ये सब इस पुरुषसे ही प्रकट हुए हैं]।

किं च सप्तेमे लोका इन्द्रियस्थानानि येषु चरन्ति सञ्चरन्ति प्राणाः। प्राणा येषु चरन्तीति प्राणानां विशेषणमिदं प्राणापा-

तथा ये सात लोक—इन्द्रियस्थान, जिनमें कि ये प्राण सञ्चार करते हैं। 'जिनमें प्राण सञ्चार करते हैं' यह प्राणोंका विशेषण [उनके प्रसिद्ध अर्थ] प्राणापानादि-

नादिनिवृत्त्यर्थम्। गुहायां शरीरे हृदये वा स्वापकाले शेरत इति गुहाशयाः, निहिताः स्थापिता धात्रा सप्त सप्त प्रतिप्राणिभेदम्।

की आशंका निवृत्त करनेके लिये है। जो सुषुप्ति-अवस्थामें गुहा—शरीर अथवा हृदयमें शयन करते हैं वे गुहाशय तथा विधाताद्वारा प्रत्येक प्राणीमें निहित—स्थापित ये सात-सात पदार्थ [इस पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं]।

यानि चात्मयाजिनां विदुषां कर्माणि कर्मफलानि चाविदुषां च कर्माणि तत्साधनानि कर्मफलानि च सर्वं चैतत्परस्मादेव पुरुषात्सर्वज्ञात्प्रसूतमिति प्रकरणार्थः ॥ ८ ॥

इस प्रकार जो भी आत्मयाजी विद्वानोंके कर्म और कर्मफल तथा अज्ञानियोंके कर्म, कर्मफल और उनके साधन हैं वे सब उस परम पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं—यह इस प्रकरणका अर्थ है ॥ ८ ॥

पर्वत, नदी और ओषधि आदिका ब्रह्मजन्यत्व

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

इसीसे समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं; इसीसे अनेक रूपोंवाली नदियाँ बहती हैं; इसीसे सम्पूर्ण ओषधियाँ और रस प्रकट हुए हैं, जिस (रस) से भूतोंसे परिवेष्टित हुआ यह अन्तरात्मा स्थित होता है ॥ ९ ॥

अतः पुरुषात्समुद्राः सर्वे क्षाराद्याः, गिरयश्च हिमवदादयोऽस्मादेव पुरुषात्सर्वे। स्यन्दन्ते स्रवन्ति

इस पुरुषसे ही क्षारादि सात समुद्र और इसीसे हिमालय आदि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए हैं। गङ्गा

गङ्गाद्याः सिन्धवो नद्यः सर्वरूपा बहुरूपा अस्मादेव पुरुषात् सर्वा ओषधयो व्रीहियवाद्याः । रसश्च मधुरादिः षड्विधो येन रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः परिवेष्टितस्तिष्ठते तिष्ठति ह्यन्तरात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम् । तद्ध्यन्तराले शरीरस्यात्मनश्चात्मवद्वर्तत इत्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

आदि अनेक रूपोंवाली नदियाँ भी इसीसे प्रवाहित होती हैं। इसी पुरुषसे व्रीहि, यव आदि सम्पूर्ण ओषधियाँ तथा मधुरादि छः प्रकारका रस उत्पन्न हुआ है, जिस रससे कि पाँच स्थूल भूतोंद्वारा परिवेष्टित हुआ अन्तरात्मा—लिंगदेह यानी सूक्ष्म शरीर स्थित रहता है। यह शरीर और आत्माके मध्यमें आत्माके समान स्थित है; इसलिये अन्तरात्मा कहलाता है ॥ ९ ॥

ब्रह्म और जगत्का अभेद तथा ब्रह्मज्ञानसे अविद्या-ग्रन्थिका नाश

एवं पुरुषात्सर्वमिदं सम्प्रसूतम् । अतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं पुरुष इत्येव सत्यम् । अतः—

इस प्रकार यह सब पुरुषसे ही उत्पन्न हुआ है; अतः विकार वाणीका आरम्भ और नाममात्रके लिये तथा मिथ्या ही है, केवल पुरुष ही सत्य है। इसलिये—

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

यह सारा जगत्, कर्म और तप (ज्ञान) पुरुष ही है। वह पर और अमृतरूप ब्रह्म है। उसे जो सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित जानता है, हे सोम्य! वह इस लोकमें अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर देता है ॥ १० ॥

पुरुष एवेदं विश्वं सर्वम् । न विश्वं नाम पुरुषादन्यत्किञ्चिदस्ति । अतो यदुक्तं तदेवेदम्

पुरुष ही यह विश्व—सारा जगत् है; पुरुषसे भिन्न 'विश्व' कोई वस्तु नहीं है। अतः 'हे भगवन्!

अभिहितं 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति'। एतस्मिन्हि परस्मिन्नात्मनि सर्वकारणे पुरुषे विज्ञाते पुरुष एवेदं विश्वं नान्यदस्तीति विज्ञातं भवतीति।

किस्को जान लेनेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?' ऐसा जो प्रश्न किया गया था उसीका यहाँ उत्तर दिया गया है कि 'सबके कारणस्वरूप इस परमात्माको जान लेनेपर ही यह ज्ञान हो जाता है कि यह विश्व पुरुष ही है, उससे भिन्न नहीं है।'

किं पुनरिदं विश्वमित्युच्यते। कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। तपो ज्ञानं तत्कृतं फलमन्यदेतावद्धीदं सर्वम्। तच्चैतद्ब्रह्मणः कार्यम्। तस्मात्सर्वं ब्रह्म परामृतं परममृतम् अहमेवेति यो वेद निहितं स्थितं गुहायां हृदि सर्वप्राणिनां स एवं विज्ञानादविद्याग्रन्थिं ग्रन्थिमिव दृढीभूतामविद्यावासनां विकिरति विक्षिपति नाशयतीह जीवन्नेव न मृतः सन् हे सोम्य प्रियदर्शन १०

किन्तु यह विश्व है क्या? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—अग्निहोत्रादिरूप कर्म, तप यानी ज्ञान, उसका फल तथा इसी प्रकारका यह और सब भी [विश्व कहलाता है]। यह सब ब्रह्मका ही कार्य है। इसलिये यह सब पर अमृत ब्रह्म है और परामृत ब्रह्म मैं ही हूँ—ऐसा जो पुरुष सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित उस ब्रह्मको जानता है हे सोम्य—हे प्रियदर्शन! वह अपने ऐसे विज्ञानसे अविद्याग्रन्थिको यानी ग्रन्थि (गाँठ) के समान दृढ हुई अविद्याकी वासनाको इस लोकमें जीवित रहते ही काट डालता है—मरकर नहीं ॥ १० ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मका स्वरूपनिर्देश तथा उसे जाननेके लिये आदेश

अरूपं सदक्षरं केन प्रकारेण विज्ञेयमित्युच्यते—

रूपहीन होनेपर भी उस अक्षर-को किस प्रकार जानना चाहिये—यह अब बतलाया जाता है—

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥

यह ब्रह्म प्रकाशस्वरूप, सबके हृदयमें स्थित, गुहाचर नामवाला और महत्पद है । इसीमें चलनेवाले, प्राणन करनेवाले और निमेषोन्मेष करनेवाले ये सब समर्पित हैं । तुम इसे सदसद्रूप, प्रार्थनीय, प्रजाओंके विज्ञानसे परे और सर्वोत्कृष्ट जानो ॥ १ ॥

आविः प्रकाशं संनिहितं वागाद्युपाधिभिर्ज्वलति भ्राजतीति श्रुत्यन्तराच्छब्दादीनुपलभमानवदवभासते । दर्शनश्रवणमननविज्ञानाद्युपाधिधर्मैराविर्भूतं सल्लक्ष्यते हृदि सर्वप्राणिनाम् ।

आविः—प्रकाशस्वरूप, संनिहित—समीपस्थित; वागादि उपाधियोंद्वारा प्रज्वलित होता है, प्रकाशित होता है—ऐसी एक अन्य श्रुतिके अनुसार वह शब्दादि विषयोंको उपलब्ध करता-सा जान पड़ता है अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान आदि उपाधिके धर्मोंसे आविर्भूत हुआ दिखायी देता है [अतः संनिहित है] ।

यदेतदाविर्ब्रह्म संनिहितं सम्यक् स्थितं हृदि तद्गुहाचरं नाम। गुहायां चरतीति दर्शनश्रवणादिप्रकारैर्गुहाचरमिति प्रख्यातम्। महत्सर्वमहत्त्वात्। पदं पद्यते सर्वेणेति सर्वपदार्थास्पदत्वात्।

कथं तन्महत्पदमित्युच्यते। यतोऽत्रास्मिन्ब्रह्मण्येतत्सर्वं समर्पितं प्रवेशितं रथनाभाविवाराः। एजच्चलत्पक्ष्यादि, प्राणत्प्राणितीति प्राणापानादिमन्मनुष्यपश्वादि, निमिषच्च यन्निमेषादिक्रियावद्यच्चानिमिषच्चशब्दात्समस्तमेतदत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम्।

एतद्यदास्पदं सर्वं जानथ हे शिष्या अवगच्छथ तदात्मभूतं भवतां सदसत्स्वरूपम्। सदसतो-

इस प्रकार जो प्रकाशमान ब्रह्म हृदयमें संनिहित—सम्यक् स्थित है वह. गुहाचर—दर्शन-श्रवणादि प्रकारोंसे गुहा (बुद्धि) में सञ्चार करता है इसलिये गुहाचर नामसे विख्यात है। [वही महत्पद है] सबसे बड़ा होनेके कारण वह 'महत्' है और सबसे प्राप्त किया जाता है अथवा सारे पदार्थोंका आश्रय है, इसलिये 'पद' है।

वह 'महत्पद' किस प्रकार है? सो बतलाते हैं—क्योंकि इस ब्रह्ममें ही, रथकी नाभिमें अरोंके समान यह सब कुछ समर्पित अर्थात् भली प्रकार प्रवेशित है। एजत्—चलने-फिरनेवाले पक्षी आदि, प्राणत्—जो प्राणन करते हैं वे प्राणापानादिमान् मनुष्य और पशु आदि, निमिषत् च—जो निमेषादि क्रियावाले और च शब्दके सामर्थ्यसे जो निमेष नहीं करनेवाले हैं वे भी इस प्रकार ये सब इस ब्रह्ममें ही समर्पित हैं।

हे शिष्यगण! ये सब जिस [ब्रह्मरूप] आश्रयवाले हैं उसे तुम जानो—समझो; वह सदसत्स्वरूप तुम्हारा आत्मा है, क्योंकि उससे भिन्न

मूर्तामूर्तयोः स्थूलसूक्ष्मयोस्तद्व्यतिरेकेणाभावात् । वरेण्यं वरणीयं तदेव हि सर्वस्य नित्यत्वात्प्रार्थनीयम् । परं व्यतिरिक्तं विज्ञानात्प्रजानामिति व्यवहितेन सम्बन्धः; यल्लौकिकविज्ञानागोचरमित्यर्थः । यद्वरिष्ठं वरतमं सर्वपदार्थेषु वरेषु तद्ध्येकं ब्रह्मातिशयेन वरं सर्वदोषरहितत्वात् ॥ १ ॥

कोई सत् या असत्—मूर्त्त या अमूर्त्त अर्थात् स्थूल या सूक्ष्म है ही नहीं । और वही नित्य होनेके कारण सबका वरेण्य—वरणीय—प्रार्थनीय है । तथा प्रजाओंके विज्ञानसे परे यानी व्यतिरिक्त है—इस प्रकार इस [पर शब्द] का व्यवधानयुक्त [प्रजानाम्] पदसे सम्बन्ध है । तात्पर्य यह कि जो लौकिक विज्ञानका अविषय है, और वरिष्ठ यानी सम्पूर्ण श्रेष्ठ पदार्थोंमें श्रेष्ठतम है, क्योंकि सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण एक वह ब्रह्म ही अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

ब्रह्ममें मनोनिवेश करनेका विधान

किं च— | तथा—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥

जो दीप्तिमान् और अणुसे भी अणु है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक और उनके निवासी स्थित हैं वही यह अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है तथा वही वाक् और मन है । वही यह सत्य और अमृत है । हे सोम्य ! उसका [मनोनिवेशद्वारा] वेधन करना चाहिये; तू उसका वेधन कर ॥२॥

यदर्चिमद्दीप्तिमत्, दीप्त्या ह्यादित्यादि दीप्यत इति दीप्ति-

जो अर्चिमत् यानी दीप्तिमान् है; ब्रह्मकी दीप्तिसे ही सूर्य आदि देदीप्यमान होते हैं, इसलिये ब्रह्म

मन्त्रह्म। किं च यदणुभ्यः श्यामाकादिभ्योऽप्यणु च सूक्ष्मम्। च-शब्दात्स्थूलेभ्योऽप्यतिशयेन स्थूलं पृथिव्यादिभ्यः। यस्मिँल्लोका भूरादयो निहिताः स्थिताः, ये च लोकिनो लोकनिवासिनो मनुष्यादयश्चैतन्याश्रया हि सर्वे प्रसिद्धाः। तदेतत्सर्वाश्रयमक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनो वाक्च मनश्च सर्वाणि च करणानि तदन्तश्चैतन्यं चैतन्याश्रयो हि प्राणेन्द्रियादिसर्वसंघातः "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० उ० ४।४।१८) इति श्रुत्यन्तरात्।

दीप्तिमान् है। और जो श्यामाक आदि अणुओंसे भी अणु—सूक्ष्म है। 'च' शब्दसे यह समझना चाहिये कि जो पृथिवी आदि स्थूल पदार्थोंसे भी अत्यन्त स्थूल है। जिसमें भूर्लोक आदि सम्पूर्ण लोक तथा उन लोकोंके निवासी मनुष्यादि स्थित हैं, क्योंकि सारे पदार्थ चैतन्यके ही आश्रित प्रसिद्ध हैं, वही सबका आश्रयभूत यह अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है तथा वही वाणी और मन आदि समस्त इन्द्रिय-वर्ग है; उन सभीमें चैतन्य ओतप्रोत है, क्योंकि प्राण और इन्द्रिय आदिका सारा संघात चैतन्यके ही आश्रित है, जैसा कि "वह प्राणका प्राण है" इत्यादि एक अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है।

यत्प्राणादीनामन्तश्चैतन्यमक्षरं तदेतत्सत्यमवितथमतोऽमृतम् अविनाशि तद्वेद्धव्यं मनसा ताडयितव्यम्। तस्मिन्मनःसमाधानं कर्तव्यमित्यर्थः। यस्मादेवं

[इस प्रकार] प्राणादिके भीतर रहनेवाला जो अक्षर चैतन्य है वही यह सत्य यानी अवितथ है; अतः वह अमृत—अविनाशी है। उसका वेधन यानी मनसे ताडन करना चाहिये। अर्थात् उसमें मनको समाहित करना चाहिये। हे सोम्य! क्योंकि ऐसी बात है,

हे सोम्य विद्धयक्षरे चेतः समाधत्स्व ॥ २ ॥

इसलिये तू वेधन कर यानी अपने चित्तको उस अक्षरमें लगा दे ॥ २ ॥

ब्रह्मवेधनकी विधि

कथं वेद्धव्यमित्युच्यते—

उसका किस प्रकार वेधन करना चाहिये, सो बतलाया जाता है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! उपनिषद्वेद्य महान् अस्त्ररूप धनुष लेकर उसपर उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ा; और फिर उसे खींचकर ब्रह्म-भावानुगत चित्तसे उस अक्षररूप लक्ष्यका ही वेधन कर ॥ ३ ॥

धनुरिष्वासनं गृहीत्वादायौपनिषदमुपनिषत्सु भवं प्रसिद्धं महास्त्रं महच्च तदस्त्रं च महास्त्रं धनुस्तस्मिञ्शरम्; किंविशिष्टम् इत्याह— उपासानिशितं सन्तताभिध्यानेन तनूकृतं संस्कृतमित्येतत्, सन्धयीत सन्धानं कुर्यात्। सन्धाय चायम्याकृष्य सेन्द्रियम् अन्तःकरणं स्वविषयाद्विनिवर्त्य

औपनिषद—उपनिषदोंमें वर्णित यानी उपनिषत्प्रसिद्ध महास्त्र—महान् अस्त्ररूप धनुष्—शरासन लेकर उसपर बाण चढ़ावे—किस प्रकारका बाण चढ़ावे ? इसपर कहते हैं — उपासनासे निशित यानी निरन्तर ध्यान करनेसे पैनाया हुआ—संस्कार किया हुआ बाण चढ़ावे । फिर बाण चढ़ानेके अनन्तर उसे खींचकर अर्थात् इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणको

लक्ष्य एवावर्जितं कृत्वेत्यर्थः । न हि हस्तेनेव धनुष आयमनमिह सम्भवति । तद्भावगतेन तस्मिन् ब्रह्मण्यक्षरे लक्ष्ये भावना भावः तद्गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेव यथोक्तलक्षणमक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

उनके विषयोंसे हटा अपने लक्ष्यमें ही जोड़कर—क्योंकि इस धनुषको हाथसे धनुष चढ़ानेके समान नहीं खींचा जा सकता—तद्भावगत अर्थात् अपने लक्ष्य उस अक्षर ब्रह्ममें जो भावना है उस भावमें गये हुए चित्तसे हे सोम्य ! ऊपर कहे हुए लक्षणोंवाले अपने उसी लक्ष्य अक्षर ब्रह्मका वेधन कर ॥ ३ ॥

वेधनके लिये ग्रहण किये जानेवाले धनुषादिका स्पष्टीकरण

यदुक्तं धनुरादि तदुच्यते—

ऊपर जो धनुष आदि बतलाये गये हैं उनका उल्लेख किया जाता है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥

प्रणव धनुष है, [सोपाधिक] आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है । उसका सावधानतापूर्वक वेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रणव ओङ्कारो धनुः । यथेष्वासनं लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथात्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोङ्कारः । प्रणवेन ह्यभ्यस्यमानेन संस्क्रियमाणस्तदालम्बनोऽप्रतिबन्धेनाक्षरेऽवतिष्ठते;

प्रणव यानी ओंकार धनुष है । जिस प्रकार शरासन (धनुष) लक्ष्यमें बाणके प्रवेश कर जानेका साधन है उसी प्रकार [सोपाधिक] आत्मारूप बाणके अपने लक्ष्य अक्षरमें प्रवेश करनेका कारण ओंकार है । अभ्यास किये हुए प्रणवके द्वारा ही संस्कृत होकर वह उसके आश्रयसे बिना किसी बाधाके अक्षर ब्रह्ममें इस प्रकार स्थित होता है, जैसे धनुषसे छोड़ा

यथा धनुषास्त इषुर्लक्ष्ये । अतः प्रणवो धनुरिव धनुः । शरो ह्यात्मोपाधिलक्षणः पर एव जले सूर्यादिवदिह प्रविष्टो देहे सर्वबौद्धप्रत्ययसाक्षितया । स शर इव स्वात्मन्येवार्पितोऽक्षरे ब्रह्मण्यतो ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । लक्ष्य इव मनःसमाधित्सुभिः आत्मभावेन लक्ष्यमाणत्वात् ।

हुआ बाण अपने लक्ष्यमें । अतः धनुषके समान होनेसे प्रणव ही धनुष है । तथा आत्मा ही बाण है, जो कि जलमें प्रतिबिम्बित हुए सूर्य आदिके समान इस शरीरमें सम्पूर्ण बौद्ध प्रतीतियोंके साक्षीरूपसे प्रविष्ट हो रहा है । वह बाणके समान अपने ही आत्मा (स्वरूपभूत) अक्षर ब्रह्ममें अनुप्रविष्ट हो रहा है । इसलिये ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है, क्योंकि मनको समाहित करनेकी इच्छावाले पुरुषों-को वही आत्मभावसे लक्षित होता है ।

तत्रैवं सत्यप्रमत्तेन बाह्यविषयोपलब्धितृष्णाप्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन जितेन्द्रियेणैकाग्रचित्तेन वेद्धव्यं ब्रह्म लक्ष्यम् । ततस्तद्वेधनादूर्ध्वं शरवत्तन्मयो भवेत् । यथा शरस्य लक्ष्यैकात्मत्वं फलं भवति तथा देहाद्यात्मप्रत्ययतिरस्करणेनाक्षरैकात्मत्वं फलमापादयेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

अतः ऐसा होनेके अनन्तर अप्रमत्त—बाह्य विषयोंकी उपलब्धि-की तृष्णारूप प्रमादसे रहित होकर अर्थात् सब ओरसे विरक्त यानी जितेन्द्रिय होकर एकाग्रचित्तसे ब्रह्मरूप अपने लक्ष्यका वेधन करना चाहिये । और फिर उसका वेधन कर-नेके अनन्तर बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बाणका अपने लक्ष्यसे एकरूप हो जाना ही फल है उसी प्रकार देहादिमें आत्मत्वकी प्रतीति-का तिरस्कार कर उस अक्षरब्रह्मसे एकात्मत्वरूप फल प्राप्त करे ॥ ४ ॥

आत्मसाक्षात्कारके लिये पुनः विधि

अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वात्पुनः पुनर्वचनं सुलक्षणार्थम्—

कठिनतासे लक्षित होनेवाला होनेके कारण उस अक्षरका ही, भली प्रकार लक्ष्य करानेके लिये बार-बार वर्णन किया जाता है—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥

जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणोंके सहित मन ओतप्रोत है उस एक आत्माको ही जानो, और सब बातोंको छोड़ दो; यही अमृत (मोक्षप्राप्ति) का सेतु (साधन) है ॥ ५ ॥

यस्मिन्नक्षरे पुरुषे द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं चोतं समर्पितं मनश्च सह प्राणैः करणैरन्यैः सर्वैस्तमेव सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं जानथ जानीत हे शिष्याः । आत्मानं प्रत्यक्स्वरूपं युष्माकं सर्वप्राणिनां च ज्ञात्वा चान्या वाचोऽपर-विद्यारूपा विमुञ्चथ विमुञ्चत परित्यजत तत्प्रकाश्यं च सर्वं कर्म ससाधनम्; यतोऽमृतस्यैष

हे शिष्यगण ! जिस अक्षर पुरुषमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और प्राणों यानी अन्य समस्त इन्द्रियोंके सहित मन ओत— समर्पित है उस एक—अद्वितीय आत्माको ही जानो; तथा इस प्रकार आत्माको अपने और समस्त प्राणियों-के प्रत्यक्स्वरूपको जानकर अपर-विद्यारूप अन्य वाणीको तथा उससे प्रकाशित होनेवाले समस्त कर्मको उसके साधनसहित छोड़ दो— उसका सब प्रकार त्याग कर दो, क्योंकि यह अमृतका सेतु है—

सेतुरेतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेः उत्तरण-हेतुत्वात्तथा च श्रुत्यन्तरं "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे० उ० ३ । ८, ६ । १५) इति ॥ ५ ॥

यह आत्मज्ञान संसार-महासागरको पार करनेका साधन होनेके कारण अमृत—अमरत्व यानी मोक्षकी प्राप्तिके लिये [नदीके पार जानेके साधनभूत] सेतुके समान सेतु है। जैसा कि—"उसीको जानकर पुरुष मृत्युको पार कर जाता है, उसकी प्राप्तिका [इसके सिवा] और कोई मार्ग नहीं है" इत्यादि एक अन्य श्रुति भी कहती है॥ ५ ॥

ओंकाररूपसे ब्रह्मचिन्तनकी विधि

किं च— तथा—

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

रथचक्रकी नाभिमें जिस प्रकार अरे लगे होते हैं उसी प्रकार जिसमें सम्पूर्ण नाडियाँ एकत्रित होती हैं उस (हृदय) के भीतर यह अनेक प्रकारसे उत्पन्न हुआ सञ्चार करता है। उस आत्माका 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करो। अज्ञानके उस पार गमन करनेमें तुम्हारा कल्याण हो [अर्थात् तुम्हें किसी प्रकारका विघ्न प्राप्त न हो] ॥ ६ ॥

अरा इव, यथा रथनाभौ समर्पिता अरा एवं संहताः सम्प्रविष्टा यत्र यस्मिन्हृदये सर्वतो देहव्यापिन्यो नाड्यस्तस्मिन्हृदये

अरोंके समान अर्थात् जिस प्रकार रथकी नाभिमें अरे समर्पित रहते हैं उसी प्रकार शरीरमें सर्वत्र व्याप्त नाडियाँ जिस हृदयमें संहत अर्थात् प्रविष्ट हैं उसके भीतर यह बौद्ध प्रतीतियों-

बुद्धिप्रत्ययसाक्षिभूतः स एष प्रकृत आत्मान्तर्मध्ये चरते चरति वर्तते; पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्बहुधानेकधा क्रोधहर्षादिप्रत्ययैर्जायमान इव जायमानोऽन्तःकरणोपाध्यनुविधायित्वाद्वदन्ति लौकिका हृष्टो जातः क्रुद्धो जात इति। तमात्मानम् ओमित्येवमोङ्कारालम्बनाः सन्तो यथोक्तकल्पनया ध्यायथ चिन्तयत।

का साक्षीभूत और जिसका प्रकरण चल रहा है वह आत्मा देखता, सुनता, मनन करता और जानता हुआ अन्तःकरणरूप उपाधिका अनुकरण करनेवाला होनेसे उसके हर्ष-क्रोधादि प्रत्ययोंसे मानो [नवीन-नवीनरूपसे] उत्पन्न होता हुआ मध्यमें सञ्चार करता—वर्तमान रहता है। इसीसे लौकिक पुरुष 'वह हर्षित हुआ, वह क्रोधित हुआ' ऐसा कहा करते हैं। उस आत्माको 'ॐ' इस प्रकार अर्थात् उपर्युक्त कल्पनासे ओंकारको आलम्बन बनाकर ध्यान यानी चिन्तन करो।

उक्तं वक्तव्यं च शिष्येभ्य आचार्येण जानता। शिष्याश्च ब्रह्मविद्याविविदिषुत्वान्निवृत्तकर्माणो मोक्षपथे प्रवृत्ताः। तेषां निर्विघ्नतया ब्रह्मप्राप्तिमाशास्त्याचार्यः। स्वस्ति निर्विघ्नमस्तु वो युष्माकं पाराय परकूलाय। परस्तात्कस्मादविद्यातमसः। अविद्यारहितब्रह्मात्मस्वरूपगमनायेत्यर्थः॥ ६॥

विद्वान् आचार्यको शिष्योंसे जो कुछ कहना था वह कह दिया। इससे ब्रह्मविद्याके जिज्ञासु होनेके कारण शिष्यगण भी सब कर्मोंसे उपरत होकर मोक्षमार्गमें जुट गये। अतः आचार्य उन्हें निर्विघ्नतापूर्वक ब्रह्मप्राप्तिका आशीर्वाद देते हैं—'पार अर्थात् पर तीरपर जानेके लिये तुम्हें स्वस्ति—निर्विघ्नता प्राप्त हो। किसके पार जानेके लिये? अविद्यारूप अन्धकारके पार जानेके लिये अर्थात् अविद्यारहित ब्रह्मात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये॥ ६॥

अपर ब्रह्मका वर्णन तथा उसके चिन्तनका प्रकार

योऽसौ तमसः परस्तात्संसार-महोदधिं तीर्त्वा गन्तव्यः पर-विद्याविषय इति स कस्मिन्वर्तत इत्याह—

यह जो अज्ञानान्धकारके परे संसारमहासागरको पार करके जानेयोग्य परविद्याका प्रदेश है वह किसमें वर्तमान है ? इसपर कहते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७॥

जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिसकी यह महिमा भूर्लोकमें स्थित है वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर आकाश (हृदयाकाश) में स्थित है । वह मनोमय तथा प्राण और [सूक्ष्म] शरीरको [एक देहसे दूसरे देहमें] ले जानेवाला पुरुष हृदयको आश्रितकर अन्न (अन्नमय देह) में स्थित है । उसका विज्ञान (अनुभव) होनेपर ही विवेकी पुरुष, जो आनन्दस्वरूप अमृत ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है, उसका सम्यक् साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्व्याख्यातः तं पुनर्विशिनष्टि; यस्यैष प्रसिद्धो महिमा विभूतिः । कोऽसौ महिमा ? यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शासने विधृते तिष्ठतः । सूर्याचन्द्रमसौ

'जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है' इसकी व्याख्या पहले (मुण्ड० १ । १ । ९ में) की जा चुकी है । उसीके फिर और विशेषण बतलाते हैं—जिसकी यह प्रसिद्ध महिमा यानी विभूति है; वह महिमा क्या है ? ये द्युलोक और पृथिवी जिसके शासनमें धारण किये हुए (यानी स्थिरतापूर्वक) स्थित हैं, जिसके

यस्य शासनेऽलातचक्रवदजस्रं भ्रमतः। यस्य शासने सरितः सागराश्च स्वगोचरं नातिक्रामन्ति। तथा स्थावरं जङ्गमं च यस्य शासने नियतम्। तथा चर्तवोऽयनेऽब्दाश्च यस्य शासनं नातिक्रामन्ति। तथा कर्तारः कर्माणि फलं च यच्छासनात्स्वं स्वं कालं नातिवर्तन्ते स एष महिमा भुवि लोके यस्य स एष सर्वज्ञ एवं महिमा देवो दिव्ये द्योतनवति सर्वबौद्धप्रत्ययकृतद्योतने ब्रह्मपुरे, ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वाद्ब्रह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं तस्मिन्यद्व्योम तस्मिन्व्योम्न्याकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे, प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते। न ह्याकाशवत्सर्वगतस्य गतिरागतिः प्रतिष्ठावान्यथा सम्भवति।

शासनमें, सूर्य और चन्द्रमा अलातचक्रके समान निरन्तर घूमते रहते हैं, जिसके शासनमें नदियाँ और समुद्र अपने स्थानका अतिक्रमण नहीं करते, इसी प्रकार स्थावरजङ्गम जगत् जिसके शासनमें नियमित रहता है; तथा ऋतु, अयन और वर्ष—ये भी जिसके शासनका उल्लंघन नहीं करते एवं कर्ता, कर्म और फल जिसके शासनसे अपने-अपने कालका अतिक्रमण नहीं करते—ऐसी यह महिमा संसारमें जिसकी है वह ऐसी महिमावाला सर्वज्ञ देव दिव्य—द्युतिमान् यानी समस्त बौद्ध प्रत्ययोंसे होनेवाले प्रकाशयुक्त ब्रह्मपुरमें—क्योंकि चैतन्यस्वरूपसे इस (हृदयकमलस्थित आकाश) में ब्रह्मकी सर्वदा अभिव्यक्ति होती है इसलिये हृदयकमल ब्रह्मपुर है, उसमें जो आकाश है उस हृदयपुण्डरीकान्तर्गत आकाशमें प्रतिष्ठित (स्थित) हुआ-सा उपलब्ध होता है। इसके सिवा आकाशवत् सर्वव्यापक ब्रह्मका जाना-आना अथवा स्थित होना और किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

स ह्यात्मा तत्रस्थो मनोवृत्तिभिरेव विभाव्यत इति मनोमयो मनउपाधित्वात्प्राणशरीरनेता प्राणश्च शरीरं च प्राणशरीरं तस्यायं नेता स्थूलाच्छरीराच्छरीरान्तरं प्रति । प्रतिष्ठितोऽवस्थितोऽन्ने भुज्यमानान्नविपरिणामे प्रतिदिनमुपचीयमानेऽपचीयमाने च पिण्डरूपान्ने हृदयं बुद्धिं पुण्डरीकच्छिद्रे संनिधाय समवस्थाप्य । हृदयावस्थानमेव ह्यात्मनः स्थितिर्न ह्यात्मनः स्थितिरन्ने ।

तदात्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन ज्ञानेन शमदमध्यानसर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्त्युपलभन्ते धीरा विवेकिनः आनन्दरूपं सर्वानर्थदुःखायासप्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषेण स्वात्मन्येव भाति सर्वदा ॥ ७ ॥

वहाँ (हृदयाकाशमें) स्थित वही आत्मा मनोवृत्तिसे ही अनुभव किया जाता है; इसलिये मनरूप उपाधिवाला होनेसे वह मनोमय है । तथा प्राणशरीरनेता—प्राण और शरीरका नाम प्राणशरीर है, उसे यह एक स्थूल शरीरसे दूसरे शरीरमें ले जानेवाला है । यह हृदय अर्थात् बुद्धिको उसके पुण्डरीकाकाशमें आश्रित कर अन्न यानी खाये हुए अन्नके परिणामरूप और निरन्तर बढ़ने-घटनेवाले पिण्डरूप अन्न (अन्नमय देह) में स्थित है, क्योंकि हृदयमें स्थित होना ही आत्माकी स्थिति है, अन्यथा अन्नमें आत्माकी स्थिति नहीं है ।

धीर—विवेकी पुरुष शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे प्राप्त तथा शम, दम, ध्यान, सर्वत्याग एवं वैराग्यसे उत्पन्न हुए विशेष ज्ञानद्वारा उस आत्मतत्त्वको सर्वत्र परिपूर्ण देखते यानी अनुभव करते हैं, जो आनन्दस्वरूप—सम्पूर्ण अनर्थ, दुःख और आयाससे रहित, सुखस्वरूप एवं अमृतमय सर्वदा अपने अन्तःकरणमें ही विशेषरूपसे भास रहा है ॥ ७ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारका फल

अस्य परमात्मज्ञानस्य फलमिदमभिधीयते—

इस परमात्मज्ञानका यह फल बतलाया जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

उस परावर (कारणकार्यरूप) ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेपर इस जीवकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ८ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिरविद्यावासनाप्रचयो बुद्ध्याश्रयः कामः "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" (क० उ० २ । ३ । १४, बृ० उ० ४ । ४ । ७) इति श्रुत्यन्तरात् । हृदयाश्रयोऽसौ नात्माश्रयः भिद्यते भेदं विनाशमायाति । छिद्यन्ते सर्वज्ञेयविषयाः संशया लौकिकानामामरणात्तु गङ्गास्रोतोवत्प्रवृत्ता विच्छेदमायान्ति । अस्य विच्छिन्नसंशयस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्त-

"इसके हृदयमें जो कामनाएँ आश्रित हैं" इत्यादि अन्य श्रुतिके अनुसार 'हृदयग्रन्थि' बुद्धिमें स्थित अविद्यावासनामय कामको कहते हैं । यह हृदयके ही आश्रित रहनेवाली है आत्माके आश्रित नहीं । [उस आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर यह] भेद अर्थात् नाशको प्राप्त हो जाती है । तथा लौकिक पुरुषोंके ज्ञेय पदार्थविषयक सम्पूर्ण सन्देह, जो उनके मरणपर्यन्त गङ्गाप्रवाहवत् प्रवृत्त होते रहते हैं, विच्छिन्न हो जाते हैं । जिसके संशय नष्ट हो गये हैं और जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है ऐसे इस पुरुषके जो विज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व जन्मान्तरमें किये हुए कर्म फलोन्मुख नहीं हुए

फलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि । न त्वेतज्जन्मारम्भकाणि प्रवृत्तफलत्वात् । तस्मिन्सर्वज्ञेऽसंसारिणि परावरे परं च कारणात्मनावरं च कार्यात्मना तस्मिन्परावरे साक्षादहमस्मीति दृष्टे संसारकारणोच्छेदान्मुच्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

हैं और जो ज्ञानोत्पत्तिके साथ-साथ किये जाते हैं वे सभी नष्ट हो जाते हैं; किन्तु इस (वर्तमान) जन्मको आरम्भ करनेवाले कर्म क्षीण नहीं होते, क्योंकि उनका फल देना आरम्भ हो जाता है । तात्पर्य यह है कि उस सर्वज्ञ असंसारी परावर—कारणरूपसे पर और कार्यरूपसे अपर ऐसे उस परावरके 'यह साक्षात् मैं ही हूँ' इस प्रकार देख लिये जानेपर संसारके कारणका उच्छेद हो जानेसे यह पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

उक्तस्यैवार्थस्य सङ्क्षेपाभिधायका उत्तरे मन्त्रास्त्रयोऽपि—

आगेके तीन मन्त्र भी पूर्वोक्त अर्थको ही संक्षेपसे बतलानेवाले हैं—

ज्योतिर्मय ब्रह्म

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
यच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ९ ॥

वह निर्मल और कलाहीन ब्रह्म हिरण्मय (ज्योतिर्मय) परम कोशमें विद्यमान है । वह शुद्ध और सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थोंकी ज्योति है और वह है जिसे कि आत्मज्ञानी पुरुष जानते हैं ॥ ९ ॥

हिरण्मये ज्योतिर्मये बुद्धि-विज्ञानप्रकाशे परे कोशे कोश इवासेः, आत्मस्वरूपोपलब्धि-स्थानत्वात्; परं तत्सर्वाभ्यन्तर-त्वात् तस्मिन् विरजमविद्याद्यशेष-दोष रजोमलवर्जितं ब्रह्म सर्व-महत्त्वात् सर्वात्मत्वाच्च। निष्कलं निर्गताः कला यस्मात्तन्निष्कलं निरवयवम् इत्यर्थः।

हिरण्मय—ज्योतिर्मय अर्थात् बुद्धिवृत्तिके प्रकाशरूप परमकोशमें, जो आत्मस्वरूपकी उपलब्धिका स्थान होनेके कारण तलवारके कोश (म्यान) के समान है और सबसे भीतरी होनेके कारण श्रेष्ठ है, उसमें विरज—अविद्यादि सम्पूर्ण दोषरूप मलसे रहित ब्रह्म विराजमान है, जो सबसे बड़ा तथा सर्वरूप होनेके कारण ब्रह्म है। वह निष्कल है; जिससे सब कलाएँ निकल गयी हों उसे निष्कल कहते हैं अर्थात् वह निरवयव है।

यस्माद्विरजं निष्कलं चातस्त-च्छुभ्रं शुद्धं ज्योतिषां सर्वप्रका-शात्मनामग्न्यादीनामपि तज्ज्यो-तिरवभासकम्। अग्न्यादीनाम् अपि ज्योतिष्ट्वमन्तर्गतब्रह्मात्म-चैतन्यज्योतिर्निमित्तमित्यर्थः। तद्धि परं ज्योतिर्यदन्यानवभाष्यम् आत्मज्योतिस्तद्यदात्मविद आत्मानं स्वं शब्दादिविषयबुद्धि-प्रत्ययसाक्षिणं ये विवेकिनो विदुर्विजानन्ति त आत्मविद-

क्योंकि ब्रह्म विरज और निष्कल है इसलिये वह शुभ्र यानी शुद्ध और ज्योतियों—अग्नि आदि सम्पूर्ण प्रकाशमय पदार्थोंका भी ज्योतिः—प्रकाशक है। तात्पर्य यह है कि अग्नि आदिका ज्योति-र्मयत्व भी अपने अन्तर्वर्ती ब्रह्मात्म-चैतन्यरूप ज्योतिके ही कारण है। जो किसी अन्यसे प्रकाशित न होनेवाला आत्मज्योति है वही परम ज्योति है, जिसे कि आत्मवेत्ता— जो विवेकी पुरुष आत्मा अर्थात् अपनेको शब्दादि विषय और बुद्धिप्रत्ययोंका साक्षी जानते हैं

स्तद्विदुरात्मप्रत्ययानुसारिणः । यस्मात्परं ज्योतिस्तस्मात्त एव तद्विदुर्नेतरे बाह्यार्थप्रत्ययानुसारिणः ॥ ९ ॥

वे आत्मानुभवका अनुसरण करनेवाले आत्मज्ञानी पुरुष जानते हैं । क्योंकि वह परम ज्योति है इसलिये उसे वे ही जानते हैं; दूसरे बाह्य प्रतीतियोंका अनुसरण करनेवाले पुरुष नहीं जानते ॥ ९ ॥

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्युच्यते—

वह ज्योतियोंका ज्योति किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है—

ब्रह्मका सर्वप्रकाशकत्व

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥

वहाँ (उस आत्मस्वरूप ब्रह्ममें) न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारे । वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती फिर यह अग्नि किस गिनतीमें है ? उसके प्रकाशित होनेसे ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसीके प्रकाशसे प्रकाशमान है ॥ १० ॥

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति । तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । स हि तस्यैव भासा सर्वमन्यदनात्मजातं प्रकाशयति

वहाँ—अपने आत्मस्वरूप ब्रह्ममें सबको प्रकाशित करनेवाला सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता अर्थात् वह भी उस ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता । वह (सूर्य) तो उस (ब्रह्म) के प्रकाशसे ही अन्य सब अनात्मपदार्थोंको

इत्यर्थः । न तु तस्य स्वतः प्रकाशनसामर्थ्यम् । तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः ।

प्रकाशित करता है, उसमें स्वतः प्रकाश करनेका सामर्थ्य है ही नहीं । इसी प्रकार वहाँ न तो चन्द्रमा या तारे ही प्रकाशित होते हैं और न यह बिजली ही; फिर हमें साक्षात् दिखलायी देनेवाला यह अग्नि तो हो ही कैसे सकता है ?

किं बहुना; यदिदं जगद्भाति तत्तमेव परमेश्वरं स्वतो भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि जगद्विभाति ।

अधिक क्या ? यह जो जगत् भासता है वह स्वयं प्रकाशरूप होनेके कारण उस परमेश्वरके प्रकाशित होनेपर उसीके पीछे प्रकाशित—देदीप्यमान हो रहा है । जिस प्रकार अग्निके संयोगसे जल और उल्मुक (अंगारा) आदि अग्निके प्रज्वलित होनेपर उसके कारण जलाने लगते हैं—स्वतः नहीं जलाते उसी प्रकार यह सूर्य आदि सम्पूर्ण जगत् उस (परब्रह्म) के प्रकाश—तेजसे ही प्रकाशित होता है ।

यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च कार्यगतेन विविधेन भासातस्तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये वह ब्रह्म ही कार्यगत विविध प्रकाशसे विशेषरूपसे प्रकाशित हो रहा है । इससे उस ब्रह्मकी प्रकाशरूपता स्वतः ज्ञात हो जाती है । जिसमें स्वयं प्रकाश नहीं है वह दूसरेको भी प्रकाशित नहीं

शक्नोति । घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भारूपाणां चादित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १० ॥

कर सकता, क्योंकि घटादि पदार्थोंमें दूसरोंको प्रकाशित करना नहीं देखा जाता तथा प्रकाशस्वरूप सूर्य आदिमें वह देखा जाता है ॥ १० ॥

यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्म तदेव सत्यं सर्वं तद्विकारं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमनृतमितरदित्येतमर्थं विस्तरेण हेतुतः प्रतिपादितं निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण पुनरुपसंहरति ।

जो ब्रह्म ज्योतियोंका ज्योति है, वही सत्य है तथा सब कुछ उसीका विकार है जो विकार केवल वाणीका आरम्भ और नाममात्र है अतः अन्य सभी मिथ्या है—ऊपर विस्तार और हेतुपूर्वक कहे हुए इस अर्थका इस निगमनस्थानीय मन्त्रसे पुनः उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मका सर्वव्यापकत्व

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं-बायीं ओर है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर फैला हुआ है। यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

ब्रह्मैवोक्तलक्षणमिदं यत्पुरस्तादग्रे ब्रह्मैवाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं तथा पश्चाद्ब्रह्म तथा दक्षिणतश्च तथोत्तरेण तथैवाध-

यह जो अविद्यामयी दृष्टिवालोंको सामने दिखायी दे रहा है वह उपर्युक्त लक्षणोंवाला ब्रह्म ही है। इसी प्रकार पीछे भी ब्रह्म है, दायीं और बायीं ओर भी ब्रह्म है तथा

स्तादूर्ध्वं च सर्वतोऽन्यदिव कार्याकारेण प्रसृतं प्रगतं नामरूपवद् अवभासमानम्। किं बहुना ब्रह्मैव इदं विश्वं समस्तमिदं जगद्वरिष्ठं वरतमम्। अब्रह्मप्रत्ययः सर्वोऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः। ब्रह्मैवैकं परमार्थसत्यम् इति वेदानुशासनम् ॥ ११ ॥

नीचे-ऊपर सभी ओर कार्यरूपसे नामरूपविशिष्ट होकर फैला हुआ वह ब्रह्म ही अन्य पदार्थोंके समान भास रहा है। अधिक क्या ? यह विश्व अर्थात् सारा जगत् श्रेष्ठतम ब्रह्म ही है। यह सम्पूर्ण अब्रह्मरूप प्रतीति रज्जुमें सर्पप्रतीतिके समान अविद्यामात्र ही है। एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है—यह वेदका उपदेश है ॥ ११ ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्तमिदं द्वितीयं मुण्डकम्।

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

प्रकारान्तरसे ब्रह्मनिरूपण

परा विद्योक्ता यया तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यमधिगम्यते । यदधिगमे हृदयग्रन्थ्यादिसंसारकारणस्यात्यन्तिकविनाशः स्यात् । तद्दर्शनोपायश्च योगो धनुराद्युपादानकल्पनयोक्तः । अथेदानीं तत्सहकारीणि सत्यादिसाधनानि वक्तव्यानीति तदर्थमुत्तरारम्भः । प्राधान्येन तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण क्रियते अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात्कृतमपि । तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते—

जिससे उस अक्षर पुरुषसंज्ञक सत्यका ज्ञान होता है उस परा विद्याका वर्णन किया गया, जिसका ज्ञान होनेपर हृदयग्रन्थि आदि संसारके कारणका आत्यन्तिक नाश हो जाता है। तथा धनुर्ग्रहण आदिकी कल्पनासे उसके साक्षात्कारके उपाय योगका भी उल्लेख किया गया। अब उसके सहकारी सत्यादि साधनोंका वर्णन करना है; इसीके लिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। यद्यपि ऊपर तत्त्वका निश्चय किया जा चुका है तो भी अत्यन्त दुर्बोध होनेके कारण उसका प्रधानतासे दूसरी तरह फिर निश्चय किया जाता है। अतः परमार्थवस्तुको समझनेके लिये पहले इस सूत्रभूत मन्त्रका उपन्यास (उल्लेख) करते हैं—

समान वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षी

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥

साथ-साथ रहनेवाले तथा समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही वृक्षका आश्रय करके रहते हैं। उनमें एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है ॥ १ ॥

द्वा द्वौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ सखाया सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणावेवंभूतौ सन्तौ समानम् अविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठानतयैकं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदनसामान्याच्छरीरं

[जीव और ईश्वररूप] दो सुपर्ण—सुन्दर पर्णवाले अर्थात् [नियम्य-नियामकभावकी प्राप्तिरूप] शोभन पतनवाले* अथवा पक्षियोंके समान [वृक्षपर निवास तथा फलभोग करनेवाले] होनेसे सुपर्ण—पक्षी तथा संयुज—सर्वदा साथ-साथ ही रहनेवाले और सखा यानी समान आख्यानवाले अर्थात् जिनकी अभिव्यक्तिका कारण समान है ऐसे दो सुपर्ण समान—सामान्यरूपसे [दोनोंकी] उपलब्धिका कारण होनेसे एक ही वृक्ष—वृक्षके समान उच्छेदमें समानता होनेके कारण शरीररूप

* ईश्वर सर्वज्ञ होनेके कारण नियामक है तथा जीव अल्पज्ञ होनेसे नियम्य है। इसलिये उनमें नियम्य-नियामकभावकी प्राप्ति उचित ही है।

वृक्षं परिषस्वजाते परिष्वक्त-वन्तौ सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोप-भोगार्थम् ।

अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयस्तं परिष्वक्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपाध्यात्मेश्वरौ । तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वाद्वनेकविचित्रवेदनास्वादरूपं स्वाद्वत्ति भक्षयत्युपभुङ्क्तेऽविवेकतः । अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति । प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्य-

वृक्षपर आलिङ्गन किये हुए हैं, अर्थात् फलोपभोगके लिये पक्षियोंके समान एक ही वृक्षपर निवास करते हैं ।

अव्यक्तरूप मूलसे उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्मफलका आश्रयभूत यह क्षेत्रसंज्ञक अश्वत्थवृक्ष ऊपरको मूल और नीचेकी ओर शाखाओंवाला है । उस वृक्षपर अविद्या, काम, कर्म और वासनाके आश्रयभूत लिङ्गदेहरूप उपाधिवाले जीव और ईश्वर दो पक्षियोंके समान आलिङ्गन किये निवास करते हैं । इस प्रकार आलिङ्गन करके रहनेवाले उन दोनोंमेंसे एक—लिङ्गोपाधिरूप वृक्षको आश्रित करनेवाला क्षेत्रज्ञ पिप्पल यानी अपने कर्मसे प्राप्त होनेवाला सुख-दुःखरूप फल, जो अनेक प्रकारसे विचित्र अनुभवरूप स्वादके कारण स्वादु है, खाता—भक्षण करता यानी अविवेकवश भोगता है । किन्तु अन्य—दूसरा, जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप सर्वज्ञ मायोपाधिक ईश्वर है, उसे ग्रहण न करता हुआ नहीं भोगता । यह तो साक्षित्वरूप सत्तामात्रसे भोक्ता और

भोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण। स त्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम्। दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत् ॥१॥

भोग्य दोनोंका प्रेरक ही है। अतः वह दूसरा तो फल-भोग न करके केवल देखता ही है—उसका प्रेरकत्व तो राजाके समान केवल दर्शनमात्र ही है ॥ १ ॥

ईश्वरदर्शनसे जीवकी शोकनिवृत्ति

तत्रैवं सति—

अतः ऐसा होनेसे—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥

[ईश्वरके साथ] एक ही वृक्षपर रहनेवाला जीव अपने दीन-स्वभावके कारण मोहित होकर शोक करता है। वह जिस समय [ध्यानद्वारा] अपनेसे विलक्षण योगिसेवित ईश्वर और उसकी महिमा [संसार] को देखता है उस समय शोकरहित हो जाता है ॥ २ ॥

समाने वृक्षे यथोक्ते शरीरे पुरुषो भोक्ता जीवोऽविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव सामुद्रे जले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयम् एवाहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः

समान वृक्षपर यानी पूर्वोक्त शरीरमें अविद्या, कामना, कर्मफल और रागादिके भारी भारसे आक्रान्त होकर समुद्रके जलमें डूबे हुए तूँबेके समान निमग्न—निश्चयपूर्वक देहात्मभावको प्राप्त हुआ यह भोक्ता जीव 'मैं यही हूँ', 'मैं अमुकका पुत्र हूँ', 'इसका नाती हूँ', 'कृश हूँ',

स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखीत्येवंप्रत्ययो नास्त्यन्योऽस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्यते च सम्बन्धिबान्धवैः।

'स्थूल हूँ', 'गुणवान् हूँ', 'गुणहीन हूँ', 'सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ' इत्यादि प्रकारके प्रत्ययोंवाला होनेसे तथा 'इस देहसे भिन्न और कुछ नहीं है' ऐसा समझनेके कारण उत्पन्न होता, मरता एवं अपने सम्बन्धियोंसे मिलता और बिछुड़ता रहता है।

अतोऽनीशया न कस्यचित् समर्थोऽहं पुत्रो मम विनष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेनेत्येवं दीनभावोऽनीशा तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमानः।

अतः अनीशावश—'मैं किसी कार्यके लिये समर्थ नहीं हूँ, मेरा पुत्र नष्ट हो गया और स्त्री भी मर गयी, अब मेरे जीवनसे क्या लाभ है ?'—इस प्रकारके दीनभावको अनीशा कहते हैं, उससे युक्त होकर अविवेकवश अनेकों अनर्थमय प्रकारोंसे मोहित अर्थात् आन्तरिक चिन्ताको प्राप्त हुआ वह शोक यानी सन्ताप करता रहता है।

स एवं प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजवं जवीभावमापन्नः कदाचिदनेकजन्मसु शुद्धधर्मसञ्चितनिमित्ततः केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागशमदमादिसम्पन्नः समाहितात्मा सन् जुष्टं सेवितमनेकैर्योगमार्गैः

इस प्रकार प्रेत, तिर्यक् और मनुष्यादि योनियोंमें निरन्तर लघुताको प्राप्त हुआ वह जिस समय अनेकों जन्मोंमें कभी अपने शुद्ध धर्मके सञ्चयके कारण किसी परम कारुणिक गुरुके द्वारा योगमार्ग दिखलाये जानेपर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, सर्वत्याग और शम-दमादिसे सम्पन्न तथा समाहितचित्त होकर ध्यान करनेपर अनेकों योगमार्गों और

कर्मभिश्च यदा यस्मिन्काले पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्विलक्षणमीशमसंसारिणम् अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्य्वतीतमीशं सर्वस्य जगतोऽयमहमस्म्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद्रूपम् अस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा तदा वीतशोको भवति सर्वस्माच्छोकसागराद्विप्रमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

कर्मोंद्वारा सेवित अन्य—वृक्षरूप उपाधिसे विलक्षण ईश्वर यानी भूख, प्यास, शोक, मोह और जरा-मृत्यु आदिसे अतीत संसारधर्मशून्य सम्पूर्ण जगत्के स्वामीको 'मैं यह सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सबके लिये समान आत्मा ही हूँ, अविद्याजनित उपाधिसे परिच्छिन्न दूसरा मायात्मा नहीं हूँ' इस प्रकार देखता है तथा उसकी महिमा यानी जगत्रूप विभूतिको 'यह इस परमेश्वरस्वरूप मेरी ही है' इस प्रकार [जानता है] उस समय वह शोकरहित हो जाता है—सम्पूर्ण शोकसागरसे मुक्त हो जाता है अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है ॥२॥

अन्योऽपि मन्त्र इममेवार्थमाह सविस्तरम्—

दूसरा मन्त्र भी इसी बातको विस्तारपूर्वक वतलाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥

जिस समय द्रष्टा सुवर्णवर्ण और ब्रह्माके भी उत्पत्तिस्थान उस जगत्कर्ता ईश्वर पुरुषको देखता है उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनोंको त्यागकर निर्मल हो अत्यन्त समताको प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

यदा यस्मिन्काले पश्यः पश्यतीति विद्वान्साधक इत्यर्थः। पश्यते पश्यति पूर्ववद्रुक्मवर्णं स्वयंज्योतिःस्वभावं रुक्मस्येव वा ज्योतिरस्याविनाशि कर्तारं सर्वस्य जगत ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वापरस्य योनिं स यदा चैवं पश्यति तदा स विद्वान्पश्यः पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय निरस्य दग्ध्वा निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यं समतामद्वयलक्षणं द्वैतविषयाणि साम्यान्यतोऽर्वाञ्च्येवातोऽद्वयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

जिस समय देखनेवाला होनेके कारण पश्य—द्रष्टा विद्वान् अर्थात् साधक रुक्मवर्ण—स्वयंप्रकाशस्वरूप अथवा सुवर्णके समान जिसका प्रकाश अविनाशी है उस सकल जगत्कर्ता ईश्वर पुरुष ब्रह्मयोनिको—जो ब्रह्म है और योनि भी है अथवा जो अपर ब्रह्म (ब्रह्मा) की योनि है उस ब्रह्मयोनिको इस प्रकार पूर्ववत् देखता है उस समय वह विद्वान् द्रष्टा पुण्य-पाप यानी अपने बन्धनभूत कर्मोंको समूल त्यागकर—भस्म करके निरञ्जन—निर्लेप अर्थात् क्लेशरहित होकर अद्वयरूप परम—उत्कृष्ट यानी निरतिशय समताको प्राप्त हो जाता है। द्वैतविषयक समता इस अद्वैतरूप साम्यसे निकृष्ट ही है; अतः वह अद्वैतरूप परम साम्यको प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

श्रेष्ठतम ब्रह्मज्ञ

किं च— | तथा—

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति

विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

यह, जो सम्पूर्ण भूतोंके रूपमें भासमान हो रहा है प्राण है। इसे जानकर विद्वान् अतिवादी नहीं होता। यह आत्मामें क्रीडा करनेवाला और आत्मामें ही रमण करनेवाला क्रियावान् पुरुष ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठतम है ॥ ४ ॥

योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरो ह्येष प्रकृतः सर्वैर्भूतैर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैः, इत्थंभूतलक्षणे तृतीया, सर्वभूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः, विभाति विविधं दीप्यते। एवं सर्वभूतस्थं यः साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति विजानन्विद्वान्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण स भवते भवति न भवतीत्येतत् किमतिवाद्यतीत्य सर्वानन्यान् वदितुं शीलमस्येत्यतिवादी।

यह जो प्राणका प्राण परमेश्वर है वह प्रकृत [परमात्मा] ही सम्पूर्ण भूतों—ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त प्राणियोंके द्वारा अर्थात् सर्वभूतस्थ सर्वात्मा होकर विभासित यानी विविध प्रकारसे देदीप्यमान हो रहा है। 'सर्वभूतैः' इस पदमें इत्थंभूतलक्षणा तृतीया* है। इस प्रकार जो विद्वान् उस सर्वभूतस्थ प्राणको 'मैं यही हूँ' ऐसा साक्षात् आत्मस्वरूपसे जाननेवाला है वह उस वाक्यके अर्थज्ञानमात्रसे भी नहीं होता। क्या नहीं होता? [इसपर कहते हैं—] अतिवादी नहीं होता। जिसका स्वभाव और सबको अतिक्रमण करके बोलनेका होता है उसे अतिवादी कहते हैं।

---

* इत्थंभूतलक्षणे (२।३।२१) इस पाणिनिसूत्रसे यहाँ तृतीया विभक्ति हुई है। किसी प्रकारकी विशेषताको प्राप्त हुई वस्तुको जो लक्षित कराता है

यस्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वानतिवादी स न भवतीत्यर्थः । सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसावतीत्य वदेत् । यस्य त्वपरम् अन्यद्दृष्टमस्ति स तदतीत्य वदति । अयं तु विद्वानात्मनोऽन्यन्न पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति । अतो नातिवदति ।

तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार प्राणके प्राण साक्षात् आत्माको जाननेवाला है वह अतिवादी नहीं होता । जब कि उसने यह देखा है कि सब आत्मा ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है तब वह किसका अतिक्रमण करके बोलेगा ? जिसकी दृष्टिमें कुछ और दीखनेवाला पदार्थ है वही उसका अतिक्रमण करके बोलता है । किन्तु यह विद्वान् तो आत्मासे भिन्न न कुछ देखता है, न सुनता है और न कुछ जानता ही है । इसलिये यह अतिवादन भी नहीं करता ।

किं चात्मक्रीड आत्मन्येव च क्रीडा क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः । तथात्मरतिरात्मन्येव च रती रमणं प्रीतिर्यस्य स आत्मरतिः । क्रीडा बाह्यसाधनसापेक्षा, रतिस्तु

यही नहीं, वह [आत्मक्रीड, आत्मरति और क्रियावान् हो जाता है ।] आत्मक्रीड—जिसकी आत्मामें ही क्रीडा हो, अन्य स्त्री-पुत्रादिमें न हो उसे आत्मक्रीड कहते हैं; तथा जिसकी आत्मामें ही रति—रमण यानी प्रीति हो वह आत्मरति कहलाता है । क्रीडा बाह्य साधनकी अपेक्षा रखनेवाली होती है और

वह 'इत्थंभूतलक्षण' कहलाता है; उसमें तृतीया विभक्ति होती है । जैसे 'जटाभिस्तापसः' (जटाओंसे तपस्वी है) इस वाक्यमें जटाओंके द्वारा तपस्वी होना लक्षित होता है; अतः 'जटा' में तृतीया विभक्ति है । इसी प्रकार 'सर्वभूत' शब्दसे ईश्वरका सब भूतोंमें स्थित होना लक्षित होता है ।

साधननिरपेक्षा बाह्यविषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः। तथा क्रियावाञ्ज्ञानध्यानवैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियावान्। समासपाठ आत्मरतिरेव क्रियास्य विद्यत इति बहुव्रीहिमतुबर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यते।

रति साधनकी अपेक्षा न करके बाह्य विषयकी प्रीतिमात्रको कहते हैं—यही इन दोनोंमें विशेषता (अन्तर) है। तथा क्रियावान् अर्थात् जिसकी ज्ञान, ध्यान एवं वैराग्यादि क्रियाएँ हों उसे क्रियावान् कहते हैं। किन्तु ['आत्मरतिक्रियावान्' ऐसा] समासयुक्त पाठ होनेपर 'आत्मरति ही जिसकी क्रिया है' [ऐसा अर्थ होनेसे] बहुव्रीहि समास और 'मतुप्' प्रत्ययका अर्थ—इन दोमेंसे एक (मतुप् प्रत्ययका अर्थ) अधिक हो जाता है।

समुच्चयवादिमतखण्डनम्

केचित्त्वग्निहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः समुच्चयार्थमिच्छन्ति। तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन मुख्यार्थवचनेन विरुध्यते। न हि बाह्यक्रियावानात्मक्रीड आत्मरतिश्च भवितुं शक्तः, कश्चिद्बाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो भवति बाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात्। न हि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्र स्थितिः संभवति।

कोई-कोई (समुच्चयवादी) तो [आत्मरति और क्रियावान् इन दोनों विशेषणोंको] अग्निहोत्रादि कर्म और ब्रह्मविद्याके समुच्चयके लिये समझते हैं। किन्तु उनका यह अभिप्राय 'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इस मुख्यार्थवाची कथनसे विरुद्ध है। बाह्यक्रियावान् पुरुष आत्मक्रीड और आत्मरति हो ही नहीं सकता। कोई भी पुरुष कभी-न-कभी बाह्य क्रियासे निवृत्त होकर ही आत्मक्रीड हो सकता है, क्योंकि बाह्य क्रिया और आत्मक्रीडाका परस्पर विरोध है। अन्धकार और प्रकाशकी एक स्थानपर एक ही समय स्थिति हो ही नहीं सकती।

तस्मादसत्प्रलपितमेवैतदनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम् । "अन्या वाचो विमुञ्चथ" (मु० उ० २ । २ । ५) "संन्यासयोगात्" (मु० उ० ३ । २ । ६) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । तस्मादयम् एवेह क्रियावान्यो ज्ञानध्यानादिक्रियावानसंभिन्नार्यमर्यादः संन्यासी । य एवंलक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः ॥ ४ ॥

अतः इस वचनके द्वारा यह ज्ञान और कर्मके समुच्चयका प्रतिपादन मिथ्या प्रलाप ही है । यही बात "अन्या वाचो विमुञ्चथ" "संन्यासयोगात्" इत्यादि श्रुतियोंसे भी सिद्ध होती है । अतएव इस जगह उसीको 'क्रियावान्' कहा है जो ज्ञान-ध्यानादि क्रियाओंवाला और आर्यमर्यादाका भंग न करनेवाला संन्यासी है । जो ऐसे लक्षणोंवाला अनतिवादी, आत्मक्रीड, आत्मरति और क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठ है वही समस्त ब्रह्मवेत्ताओंमें वरिष्ठ यानी प्रधान है ॥ ४ ॥

आत्मदर्शनके साधन

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि—

अब भिक्षुके लिये सम्यग्ज्ञानके सहकारी सत्य आदि निवृत्तिप्रधान साधनोंका विधान किया जाता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

यह आत्मा सर्वदा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन योगिजन देखते हैं वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीरके भीतर रहता है ॥ ५ ॥

सत्येनानृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः। किं च तपसा हीन्द्रियमनएकाग्रतया "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" (महा० शा० २५० । ४) इति स्मरणात्। तद्ध्यनुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात्परमं साधनं तपो नेतरच्चान्द्रायणादि। एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः सर्वत्र। सम्यग्ज्ञानेन यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमाचारेण। नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्तर्दीपिकान्यायेन अनुषक्तव्यः।

[यह आत्मा] सत्यसे अर्थात् अनृत यानी मिथ्या-भाषणके त्यागद्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तथा "मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है" इस स्मृतिके अनुसार तप यानी इन्द्रिय और मनकी एकाग्रतासे भी [इस आत्माकी उपलब्धि हो सकती है], क्योंकि आत्मदर्शनके अभिमुख रहनेके कारण यही तप उसका अनुकूल परम साधन है—दूसरा चान्द्रायणादि तप उसका साधन नहीं है [इसके सिवा] सम्यग्ज्ञान—यथार्थ आत्मदर्शन और ब्रह्मचर्य—मैथुनके त्यागसे भी नित्य अर्थात् सर्वदा [इस आत्माकी प्राप्ति हो सकती है]; यहाँ 'एष आत्मा लभ्यः' (इस आत्माकी प्राप्ति हो सकती है) इस वाक्यका सर्वत्र सम्बन्ध है। 'सर्वदा सत्यसे', 'सर्वदा तपसे' और 'सर्वदा सम्यग्ज्ञानसे' इस प्रकार अन्तर्दीपिकान्यायसे (मध्यवर्ती दीपकोंके समान) सभीके साथ 'नित्य' शब्दका सम्बन्ध लगाना चाहिये;

वक्ष्यति च—"न येषु जिह्ममनृतं न माया च" (प्र० उ० १।१६) इति।

कोऽसावात्मा य एतैः साधनैर्लभ्य इत्युच्यते। अन्तःशरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो यतनशीलाः संन्यासिनः क्षीणदोषाः क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः। स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः संन्यासिभिर्लभ्यते। न कादाचित्कैः सत्यादिभिः लभ्यते। सत्यादिसाधनस्तुत्यर्थोऽयमर्थवादः॥ ५॥

जैसा कि आगे (प्रश्नोपनिषद्में) कहेंगे भी *'जिन पुरुषोंमें अकुटिलता, अनृत और माया नहीं है' इत्यादि।

जो आत्मा इन साधनोंसे प्राप्त किया जाता है वह कौन है—इसपर कहा जाता है—'अन्तःशरीरे' अर्थात् शरीरके भीतर पुण्डरीकाकाशमें जो ज्योतिर्मय सुवर्णवर्ण शुभ्र यानी शुद्ध आत्मा है, जिसे कि क्षीणदोष यानी जिनके क्रोधादि मनोमल क्षीण हो गये हैं वे यतिजन—यत्नशील संन्यासीलोग देखते अर्थात् उपलब्ध करते हैं। तात्पर्य यह है कि वह आत्मा सर्वदा सत्यादि साधनोंसे ही संन्यासियोंद्वारा प्राप्त किया जा सकता है—कभी-कभी व्यवहार किये जानेवाले सत्यादिसे प्राप्त नहीं होता। यह अर्थवाद सत्यादि साधनोंकी स्तुतिके लिये है॥ ५॥

सत्यकी महिमा

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

---

* इस भविष्यकालिक उक्तिसे विदित होता है कि उपनिषद्भाष्यके विद्यार्थियोंको प्रश्नोपनिषद्के पश्चात् मुण्डकका अध्ययन करना चाहिये।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

सत्य ही जयको प्राप्त होता है, मिथ्या नहीं। सत्यसे देवयान-मार्गका विस्तार होता है, जिसके द्वारा आप्तकाम ऋषिलोग उस पदको प्राप्त होते हैं जहाँ वह सत्यका परम निधान (भण्डार) वर्तमान है ॥६॥

सत्यमेव सत्यवानेव जयति नानृतं नानृतवादीत्यर्थः। न हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोर्जयः पराजयो वा सम्भवति। प्रसिद्धं लोके सत्यवादिनानृतवाद्यभिभूयते न विपर्ययोऽतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम्।

सत्य अर्थात् सत्यवान् ही जयको प्राप्त होता है, मिथ्या यानी मिथ्यावादी नहीं। [यह 'सत्य' और 'अनृत' का सत्यवान् और मिथ्यावादी अर्थ इसलिये किया गया है कि] पुरुषका आश्रय न करनेवाले केवल सत्य और मिथ्याका ही जय या पराजय नहीं हो सकता। लोकमें प्रसिद्ध ही है कि सत्यवादीसे मिथ्यावादीको ही नीचा देखना पड़ता है, इसके विपरीत नहीं होता। इससे सत्यका प्रबल साधनत्व सिद्ध होता है।

किं च शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधनातिशयत्वम्। कथम्? सत्येन यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततो विस्तीर्णः सातत्येन प्रवृत्तः येन यथा ह्याक्रमन्ति क्रमन्त ऋषयो दर्शनवन्तः कुहकमाया-

यही नहीं, सत्यका उत्कृष्ट साधनत्व शास्त्रसे भी जाना जाता है। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—] सत्य अर्थात् यथार्थ वचनकी व्यवस्थासे देवयानसंज्ञक मार्ग विस्तीर्ण यानी नैरन्तर्यसे प्रवृत्त होता है, जिस मार्गसे कपट, छल, शठता, अहङ्कार, दम्भ और अनृतसे

शाठ्याहंकारदम्भानृतवर्जिता ह्याप्तकामा विगततृष्णाः सर्वतो यत्र यस्मिंस्तत्परमार्थतत्त्वं सत्यस्योत्तमसाधनस्य सम्बन्धि साध्यं परमं प्रकृष्टं निधानं पुरुषार्थरूपेण निधीयत इति निधानं वर्तते। तत्र च येन पथाक्रमन्ति स सत्येन वितत इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ६ ॥

रहित तथा सब ओरसे पूर्णकाम और तृष्णारहित ऋषिगण—[अतीन्द्रिय वस्तुको] देखनेवाले पुरुष [उस पदपर] आरूढ़ होते हैं, जिसमें कि सत्यसंज्ञक उत्कृष्ट साधनका सम्बन्धी उसका साध्यरूप परमार्थतत्त्व जो पुरुषार्थरूपसे निहित होनेके कारण निधान है वह परम यानी प्रकृष्ट निधान वर्तमान है। 'उस पदमें जिस मार्गसे आरूढ होते हैं वह सत्यसे ही विस्तीर्ण हो रहा है'—इस प्रकार इसका पूर्ववाक्यसे सम्बन्ध है ॥ ६ ॥

परमपदका स्वरूप

किं तत्किंधर्मकं च तदित्युच्यते—

वह क्या है और किन धर्मोंवाला है ? इसपर कहा जाता है—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

वह महान् दिव्य और अचिन्त्यरूप है। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर भासमान होता है तथा दूरसे भी दूर और इस शरीरमें अत्यन्त समीप भी है। वह चेतनावान् प्राणियोंमें इस शरीरके भीतर उनकी बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ है ॥ ७ ॥

बृहन्महच्च तत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यादिसाधनं सर्वतो व्याप्तत्वात्। दिव्यं स्वयंप्रभमनिन्द्रियगोचरमत एव न चिन्तयितुं शक्यतेऽस्य रूपमित्यचिन्त्यरूपम्। सूक्ष्मादाकाशादेरपि तत्सूक्ष्मतरम्, निरतिशयं हि सौक्ष्म्यमस्य सर्वकारणत्वाद्, विभाति विविधमादित्यचन्द्राद्याकारेण भाति दीप्यते।

सत्यादि जिसकी प्राप्तिके साधन हैं वह प्रकृत ब्रह्म सब ओर व्याप्त होनेके कारण बृहत्—महान् है। वह दिव्य—स्वयंप्रभ यानी इन्द्रियोंका अविषय है, इसलिये जिसका रूप चिन्तन न किया जा सके ऐसा अचिन्त्यरूप है। वह आकाशादि सूक्ष्म पदार्थोंसे भी सूक्ष्मतर है। सबका कारण होनेसे इसकी सूक्ष्मता सबसे अधिक है। इस प्रकार वह सूर्य-चन्द्र आदि रूपोंसे अनेक प्रकार भासित यानी दीप्त हो रहा है।

किं च दूराद्विप्रकृष्टदेशात्सुदूरे विप्रकृष्टतरे देशे वर्ततेऽविदुषामत्यन्तागम्यत्वात्तद्ब्रह्म। इह देहेऽन्तिके समीपे च विदुषामात्मत्वात्। सर्वान्तरत्वाच्चाकाशस्याप्यन्तरश्रुतेः। इह पश्यत्सु चेतनावत्स्वित्येतन्निहितं स्थितं दर्शनादिक्रियावत्त्वेन योगिभिर्लक्ष्यमाणम्। क्व? गुहायां

इसके सिवा वह ब्रह्म अज्ञानियोंके लिये अत्यन्त अगम्य होनेके कारण दूर यानी दूरस्थ देशसे भी अधिक दूर—अत्यन्त दूरस्थ देशमें वर्तमान है; तथा विद्वानोंका आत्मा होनेके कारण इस शरीरमें अत्यन्त समीप भी है। यह श्रुतिके कथनानुसार सबके भीतर रहनेवाला होनेसे आकाशके भीतर भी स्थित है। यह इस लोकमें 'पश्यत्सु' अर्थात् चेतनावान् प्राणियोंमें योगियोंद्वारा दर्शनादिक्रियावत्त्वरूपसे स्थित देखा जाता है। कहाँ देखा जाता है?

बुद्धिलक्षणायाम् । तत्र हि निगूढं लक्ष्यते विद्वद्भिः । तथाप्यविद्यया संवृतं सन्न लक्ष्यते तत्रस्थमेवाविद्वद्भिः ॥ ७ ॥

उनकी बुद्धिरूप गुहामें । यह विद्वानोंको उसीमें छिपा हुआ दिखायी देता है । तो भी अविद्यासे आच्छादित रहनेके कारण यह अज्ञानियोंको वहाँ स्थित रहनेपर भी दिखायी नहीं देता ॥ ७ ॥

आत्मसाक्षात्कारका असाधारण साधन—चित्तशुद्धि

पुनरप्यसाधारणं तदुपलब्धिसाधनमुच्यते—

फिर भी उसकी उपलब्धिका असाधारण साधन बतलाया जाता है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

[यह आत्मा] न नेत्रसे ग्रहण किया जाता है, न वाणीसे, न अन्य इन्द्रियोंसे और न तप अथवा कर्मसे ही । ज्ञानके प्रसादसे पुरुष विशुद्धचित्त हो जाता है और तभी वह ध्यान करनेपर उस निष्कल आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है ॥ ८ ॥

यस्मान्न चक्षुषा गृह्यते केनचिदप्यरूपत्वान्नापि गृह्यते वाचानभिधेयत्वान्न चान्यैर्देवैरितरेन्द्रियैः । तपसः सर्वप्राप्तिसाधनत्वेऽपि न तपसा

क्योंकि रूपहीन होनेके कारण यह आत्मा किसीसे भी नेत्रद्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, अवाच्य होनेके कारण वाणीसे गृहीत नहीं होता और न अन्य इन्द्रियोंका ही विषय होता है । तप सभीकी प्राप्तिका साधन है; तथापि

गृह्यते। तथा वैदिकेनाग्निहोत्रादिकर्मणा प्रसिद्धमहत्त्वेनापि न गृह्यते । किं पुनस्तस्य ग्रहणे साधनमित्याह—

ज्ञानप्रसादेन। आत्मावबोधनसमर्थमपि स्वभावेन सर्वप्राणिनां ज्ञानं बाह्यविषयरागादिदोषकलुषितमप्रसन्नमशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यं संनिहितमप्यात्मतत्त्वं मलावनद्धमिवादर्शनम्, विलुलितमिव सलिलम्। तद्यदेन्द्रियविषयसंसर्गजनितरागादिमलकालुष्यापनयनादादर्शसलिलादिवत्प्रसादितं स्वच्छं शान्तमवतिष्ठते तदा ज्ञानस्य प्रसादः स्यात् ।

तेन ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वो विशुद्धान्तःकरणो योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्ततस्तस्मात्तु तमात्मानं पश्यते पश्यत्युपलभते

यह तपसे भी ग्रहण नहीं किया जाता और न जिसका महत्त्व सुप्रसिद्ध है उस अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मसे ही गृहीत होता है। तो फिर उसके ग्रहण करनेमें क्या साधन है ? इसपर कहते हैं—

ज्ञान (ज्ञानकी साधनभूता बुद्धि) के प्रसादसे [उसका ग्रहण हो सकता है]। सम्पूर्ण प्राणियोंका ज्ञान स्वभावसे आत्मबोध करानेमें समर्थ होनेपर भी, बाह्य विषयोंके रागादि दोषसे कलुषित—अप्रसन्न यानी अशुद्ध हो जानेके कारण उस आत्मतत्त्वका, सर्वदा समीपस्थ होनेपर भी, मलसे ढके हुए दर्पण तथा चञ्चल जलके समान बोध नहीं करा सकता। जिस समय इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे होनेवाले रागादि दोषरूप मलके दूर हो जानेपर दर्पण या जल आदिके समान चित्त प्रसन्न—स्वच्छ अर्थात् शान्तभावसे स्थित हो जाता है उस समय ज्ञानका प्रसाद होता है।

क्योंकि उस ज्ञानप्रसादसे विशुद्धसत्त्व यानी शुद्धचित्त हुआ पुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार करने योग्य होता है इसलिये तब वह ध्यान करके अर्थात् सत्यादि साधनसम्पन्न

निष्कलं सर्वावयवभेदवर्जितं ध्यायमानः सत्यादिसाधनवानुपसंहृतकरण एकाग्रेण मनसा ध्यायमानश्चिन्तयन् ॥ ८ ॥

होकर इन्द्रियोंका निरोध कर एकाग्रचित्तसे ध्यान—चिन्तन करता हुआ उस निष्कल यानी सम्पूर्ण अवयवभेदसे रहित आत्माको देखता—उपलब्ध करता है ॥८॥

शरीरमें इन्द्रियरूपसे अनुप्रविष्ट हुए आत्माका चित्तशुद्धिद्वारा साक्षात्कार

यमात्मानमेवं पश्यति—

जिस आत्माको साधक इस प्रकार देखता है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥

वह सूक्ष्म आत्मा, जिस [शरीर] में पाँच प्रकारसे प्राण प्रविष्ट है उस शरीरके भीतर ही विशुद्ध विज्ञानद्वारा जानने योग्य है । उसने इन्द्रियोंद्वारा प्रजावर्गके सम्पूर्ण चित्तोंको व्याप्त किया हुआ है, जिसके शुद्ध हो जानेपर यह आत्मस्वरूपसे प्रकाशित होने लगता है ॥ ९ ॥

एषोऽणुः सूक्ष्मश्चेतसा विशुद्धज्ञानेन केवलेन वेदितव्यः । क्वासौ ? यस्मिञ्शरीरे प्राणो वायुः पञ्चधा प्राणापानादिभेदेन संविवेश सम्यक्प्रविष्टस्तस्मिन्नेव शरीरे हृदये चेतसा ज्ञेय इत्यर्थः ।

वह अणु—सूक्ष्म आत्मा चित्त यानी केवल विशुद्ध ज्ञानसे जानने योग्य है । वह कहाँ जानने योग्य है ? जिस शरीरमें प्राणवायु, प्राण-अपान आदि भेदसे पाँच प्रकारका होकर सम्यक् रीतिसे प्रविष्ट हो रहा है उसी शरीरमें हृदयके भीतर यह चित्तद्वारा जानने योग्य है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

कीदृशेन चेतसा वेदितव्य इत्याह—प्राणैः सहेन्द्रियैश्चित्तं सर्वमन्तःकरणं प्रजानामोतं व्याप्तं येन क्षीरमिव स्नेहेन काष्ठमिवाग्निना। सर्वं हि प्रजानामन्तःकरणं चेतनावत्प्रसिद्धं लोके। यस्मिंश्च चित्ते क्लेशादिमलवियुक्ते शुद्धे विभवत्येष उक्त आत्मा विशेषेण स्वेनात्मना विभवत्यात्मानं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

वह किस प्रकारके चित्त (ज्ञान) से ज्ञातव्य है? इसपर कहते हैं—दूध जिस प्रकार घृतसे और काष्ठ जिस प्रकार अग्निसे व्याप्त है उसी प्रकार जिससे प्राण यानी इन्द्रियोंके सहित प्रजाके समस्त चित्त—अन्तःकरण व्याप्त हैं, क्योंकि लोकमें प्रजाके सभी अन्तःकरण चेतनायुक्त प्रसिद्ध हैं और जिस चित्तके शुद्ध यानी क्लेशादि मलसे वियुक्त होनेपर यह पूर्वोक्त आत्मा अपने विशेषरूपसे प्रकट होता है अर्थात् अपनेको प्रकाशित कर देता है [उस विशुद्ध और विभु विज्ञानसे ही उस आत्मतत्त्वका अनुभव किया जा सकता है] ॥९॥
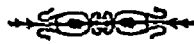
आत्मज्ञका वैभव और उसकी पूजाका विधान

य एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मानम् आत्मत्वेन प्रतिपन्नस्तस्य सर्वात्मत्वादेव सर्वाप्तिलक्षणं फलमाह—

इस प्रकार जो उपर्युक्त सर्वात्माको आत्मस्वरूपसे जानता है उसका सर्वात्मा होनेसे ही सर्वप्राप्तिरूप फल बतलाते हैं—

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १० ॥

वह विशुद्धचित्त आत्मवेत्ता मनसे जिस-जिस लोककी भावना करता है और जिन-जिन भोगोंको चाहता है वह उसी-उसी लोक और उन्हीं-उन्हीं भोगोंको प्राप्त कर लेता है। इसलिये ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला पुरुप आत्मज्ञानीकी पूजा करे ॥ १० ॥

यं यं लोकं पित्रादिलक्षणं मनसा संविभाति संकल्पयति मह्यमन्यस्मै वा भवेदिति विशुद्धसत्त्वः क्षीणक्लेश आत्मविन्निर्मलान्तःकरणः कामयते यांश्च कामान्प्रार्थयते भोगांस्तं तं लोकं जयते प्राप्नोति तांश्च कामान्संकल्पितान्भोगान् । तस्माद्विदुषः सत्यसंकल्पत्वादात्मज्ञमात्मज्ञानेन विशुद्धान्तःकरणं ह्यर्चयेत् पूजयेत्पादप्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिर्भूतिकामो विभूतिमिच्छुः । ततः पूजार्ह एवासौ ।१०।

विशुद्धसत्त्व—जिसके क्लेश* क्षीण हो गये हैं वह निर्मलचित्त आत्मवेत्ता जिस पितृलोक आदि लोककी मनसे इच्छा करता है अर्थात् ऐसा सङ्कल्प करता है कि मुझे या किसी अन्यको अमुक लोक प्राप्त हो अथवा वह जिन कामना यानी भोगोंकी अभिलाषा करता है उसी-उसी लोक तथा अपने सङ्कल्प किये हुए उन्हीं-उन्हीं भोगोंको वह प्राप्त कर लेता है। अतः ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला पुरुप उस विशुद्धचित्त आत्मज्ञानीका पाद-प्रक्षालन, शुश्रूषा एवं नमस्कारादिद्वारा पूजन करे, क्योंकि विद्वान् सत्यसङ्कल्प होता है। इसलिये (सत्यसङ्कल्प होनेके कारण) वह पूजनीय ही है ॥ १० ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

---

* क्लेश मनोविकारोंको कहा है। वे पाँच हैं; यथा—
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २ । ३)
१ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेष और ५ अभिनिवेश—ये क्लेश हैं।

द्वितीय खण्ड

आत्मवेत्ताकी पूजाका फल

यस्मात्— | क्योंकि—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ १ ॥

वह (आत्मवेत्ता) इस परम आश्रयरूप ब्रह्मको, जिसमें यह समस्त जगत् अर्पित है और जो स्वयं शुद्धरूपसे भासमान हो रहा है, जानता है । जो निष्काम भावसे उस आत्मज्ञ पुरुषकी उपासना करते हैं वे बुद्धिमान्‌लोग शरीरके बीजभूत इस वीर्यका अतिक्रमण कर जाते हैं । [अर्थात् इसके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं] ॥ १ ॥

स वेद जानातीत्येतद्यथोक्त-लक्षणं ब्रह्म परममुत्कृष्टं धाम सर्वकामानामाश्रयमास्पदं यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि धाम्नि विश्वं समस्तं जगन्निहितमर्पितं यच्च स्वेन ज्योतिषा भाति शुभ्रं शुद्धम् । तमप्येवमात्मज्ञं पुरुषं ये ह्यकामा विभूतितृष्णावर्जिता मुमुक्षवः

वह (आत्मवेत्ता) सम्पूर्ण कामनाओंके परम यानी उत्कृष्ट आश्रयभूत इस पूर्वोक्त लक्षणवाले ब्रह्मको जानता है, जिस ब्रह्मपदमें यह विश्व यानी सम्पूर्ण जगत् निहित—समर्पित है और जो कि अपने तेजसे—शुद्धरूपसे प्रकाशित हो रहा है । उस इस प्रकारके आत्मज्ञ पुरुषकी भी जो लोग निष्काम अर्थात् ऐश्वर्यकी तृष्णासे रहित होकर यानी मुमुक्षु होकर परमदेवके

सन्त उपासते परमिव सेवन्ते ते शुक्रं नृबीजं यदेतत्प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्तन्त्यतिगच्छन्ति धीरा धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति "न पुनः क्वचिद्रतिं करोति" इति श्रुतेः । अतस्तं पूजयेदित्यभिप्रायः ॥१॥

समान उपासना करते हैं वे धीर—बुद्धिमान् पुरुष शुक्र यानी मनुष्यदेहके बीजको, जो कि शरीरके उपादान कारणरूपसे प्रसिद्ध है, अतिक्रमण कर जाते हैं; अर्थात् फिर योनिमें प्रवेश नहीं करते, जैसा कि "फिर कहीं प्रीति नहीं करता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। अतः तात्पर्य यह है कि उसका पूजन करना चाहिये ॥ १ ॥

निष्कामतासे पुनर्जन्मनिवृत्ति

मुमुक्षोः कामत्याग एव प्रधानं साधनमित्येतद्दर्शयति—

मुमुक्षुके लिये कामनाका त्याग ही प्रधान साधन है—इस बातको दिखलाते हैं—

कामान्यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्वि-
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥

[भोगोंके गुणोंका] चिन्तन करनेवाला जो पुरुष भोगोंकी इच्छा करता है वह उन कामनाओंके योगसे तहाँ-तहाँ (उनकी प्राप्तिके स्थानोंमें) उत्पन्न होता रहता है। परन्तु जिसकी कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं उस कृतकृत्य पुरुषकी तो सभी कामनाएँ इस लोकमें ही लीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

कामान्यो दृष्टादृष्टेष्टविषयान् कामयते मन्यमानस्तद्गुणांश्चि-

जो पुरुष काम अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट अभीष्ट विषयोंकी, उनके गुणोंका मनन—चिन्तन करता

न्तयानः प्रार्थयते स तैः कामभिः कामैर्धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतुभिर्विषयेच्छारूपैः सह जायते तत्र तत्र । यत्र यत्र विषयप्राप्तिनिमित्तं कामाः कर्मसु पुरुषं नियोजयन्ति तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु तैरेव कामैर्वेष्टितो जायते ।

यस्तु परमार्थतत्त्वविज्ञानात् पर्याप्तकाम आत्मकामत्वेन परिसमन्तत आप्ताः कामा यस्य तस्य पर्याप्तकामस्य कृतात्मनोऽविद्यालक्षणादपररूपादपनीय स्वेन परेण रूपेण कृत आत्मा विद्यया यस्य तस्य कृतात्मनस्त्विहैव तिष्ठत्येव शरीरे सर्वे धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतवः प्रविलीयन्ति विलयम् उपयान्ति नश्यन्तीत्यर्थः । कामास्तज्जन्महेतुविनाशान्न जायन्त इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

हुआ, कामना करता है वह उन कामनाओं अर्थात् धर्माधर्ममें प्रवृत्ति करानेके हेतुभूत विषयोंकी इच्छारूप वासनाओंके सहित वहीं-वहीं उत्पन्न होता है; अर्थात् जहाँ-जहाँ विषयप्राप्तिके लिये कामनाएँ पुरुषको कर्ममें नियुक्त करती हैं वह वहीं-वहीं उन्हीं-उन्हीं प्रदेशोंमें उन कामनाओंसे ही परिवेष्टित हुआ जन्म ग्रहण करता है ।

परन्तु जो परमार्थतत्त्वके विज्ञानसे पूर्णकाम हो गया है, अर्थात् आत्मप्राप्तिकी इच्छावाला होनेके कारण जिसे सब ओरसे समस्त भोग प्राप्त हो चुके हैं उस पूर्णकाम कृतकृत्य पुरुषकी सभी कामनाएँ [लीन हो जाती हैं] अर्थात् जिसने विद्याद्वारा अपने आत्माको उसके अविद्यामय अपररूपसे हटाकर अपने पररूपसे स्थित कर दिया है उस कृतात्माके धर्माधर्मकी प्रवृत्तिके समस्त हेतु इस शरीरमें स्थित रहते हुए ही लीन अर्थात् नष्ट हो जाते हैं । अभिप्राय यह है कि अपनी उत्पत्तिके हेतुका नाश हो जानेके कारण उसमें फिर कामनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं ॥ २ ॥

आत्मदर्शनका प्रधान साधन—जिज्ञासा

यद्येवं सर्वलाभात्परम आत्मलाभस्तल्लाभाय प्रवचनादय उपाया बाहुल्येन कर्तव्या इति प्राप्त इदमुच्यते—

इस प्रकार यदि और सब लाभोंकी अपेक्षा आत्मलाभ ही उत्कृष्ट है तो उसकी प्राप्तिके लिये प्रवचन आदि उपाय अधिकतासे करने चाहिये—ऐसी बात प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ३ ॥

यह आत्मा न तो प्रवचन (पुष्कल शास्त्राध्ययन) से प्राप्त होने योग्य है और न मेधा (धारणाशक्ति) अथवा अधिक श्रवण करनेसे ही मिलनेवाला है। यह (विद्वान्) जिस परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उस (इच्छा) के द्वारा ही इसकी प्राप्ति हो सकती है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको व्यक्त कर देता है ॥ ३ ॥

योऽयमात्मा व्याख्यातो यस्य लाभः परः पुरुषार्थो नासौ वेदशास्त्राध्ययनबाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः। तथा न मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन नापि भूयसा श्रवणेनेत्यर्थः।

जिस इस आत्माकी व्याख्या की गयी है, जिसका लाभ ही परम पुरुषार्थ है वह वेदशास्त्रके अधिक अध्ययनरूप प्रवचनसे प्राप्त होने योग्य नहीं है। इसी प्रकार वह मेधा—ग्रन्थके अर्थको धारण करनेकी शक्ति अथवा 'बहुना श्रुतेन' यानी अधिक शास्त्रश्रवणसे ही मिल सकता है।

केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान्वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन साधनान्तरेण। नित्यलब्धस्वभावत्वात्।

तो फिर वह किस उपायसे प्राप्त हो सकता है? इसपर कहते हैं—जिस परमात्माको यह विद्वान् वरण करता अर्थात् प्राप्त करनेकी इच्छा करता है उस वरण करनेके द्वारा ही यह परमात्मा प्राप्त होने योग्य है; नित्यप्राप्तस्वरूप होनेके कारण किसी अन्य साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता।

कीदृशोऽसौ विदुष आत्मलाभ इत्युच्यते। तस्यैव आत्माविद्यासञ्छन्नां स्वां परां तनुं स्वात्मतत्त्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति प्रकाश इव घटादिर्विद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः। तस्मादन्यत्यागेनात्मलाभप्रार्थनैवात्मलाभसाधनमित्यर्थः ॥३॥

विद्वान्को होनेवाला यह आत्मलाभ कैसा होता है—इसपर कहते हैं—यह आत्मा उसके प्रति अपने अविद्याच्छन्न परस्वरूपको यानी स्वात्मतत्त्वको प्रकाशित कर देता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रकाशमें घटादिकी अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार विद्याकी प्राप्ति होनेपर आत्माका आविर्भाव हो जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि अन्य कामनाओंके त्यागद्वारा आत्मप्रार्थना ही आत्मलाभका साधन है ॥ ३ ॥

आत्मदर्शनके अन्य साधन

आत्मप्रार्थनासहायभूतान्येतानि च साधनानि बलाप्रमादतपांसि लिङ्गयुक्तानि संन्याससहितानि। यस्मात्—

लिङ्गयुक्त अर्थात् संन्यासके सहित बल, अप्रमाद और तप—; ये सब साधन आत्मप्रार्थनाके सहायक हैं। क्योंकि—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

यह आत्मा बलहीन पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकता और न प्रमाद अथवा लिङ्ग (संन्यास) रहित तपस्यासे ही [मिल सकता है] । परन्तु जो विद्वान् इन उपायोंसे [उसे प्राप्त करनेके लिये] प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा ब्रह्मधाममें प्रवेश करा देता है ॥ ४ ॥

यस्मादयमात्मा बलहीनेन बलप्रहीणेनात्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन न लभ्यो नापि लौकिकपुत्रपश्वादिविषयसङ्गनिमित्तप्रमादात्, तथा तपसो वाप्यलिङ्गाल्लिङ्गरहितात् । तपोऽत्र ज्ञानम्; लिङ्गं संन्यासः । संन्यासरहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत इत्यर्थः । एतैरुपायैर्बलाप्रमादसंन्यासज्ञानैर्यतते तत्परः सन्प्रयतते यस्तु विद्वान्विवेक्यात्मवित्तस्य विदुष एष आत्मा विशते संप्रविशति ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

यह आत्मा बलहीन अर्थात् आत्मनिष्ठाजनित शक्तिसे रहित पुरुषद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है; न लौकिक पुत्र एवं पशु आदि विषयोंकी आसक्तिके कारण होनेवाले प्रमादसे ही मिल सकता है और न लिङ्गरहित तपस्यासे ही । यहाँ तप ज्ञान है और लिङ्ग संन्यास । तात्पर्य यह कि संन्यासरहित ज्ञानसे प्राप्त नहीं होता । जो विद्वान् यानी विवेकी आत्मवेत्ता तत्पर होकर बल, अप्रमाद, संन्यास और ज्ञान—इन उपायोंसे [उसकी प्राप्तिके लिये] प्रयत्न करता है उस विद्वान्का यह आत्मा ब्रह्मधाममें सम्यक् रूपसे प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

आत्मदर्शीकी ब्रह्मप्राप्तिका प्रकार

कथं ब्रह्म संविशत इत्युच्यते—

विद्वान् किस प्रकार ब्रह्ममें प्रविष्ट होता है सो बतलाया जाता है—

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

इस आत्माको प्राप्तकर ऋषिगण ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, विरक्त और प्रशान्त हो जाते हैं। वे धीर पुरुष उस सर्वगत ब्रह्मको सब ओर प्राप्त कर [मरणकालमें] समाहितचित्त हो सर्वरूप ब्रह्ममें ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ५ ॥

संप्राप्य समवगम्यैनमात्मानमृषयो दर्शनवन्तस्तेनैव ज्ञानेन तृप्ता न बाह्येन तृप्तिसाधनेन शरीरोपचयकारणेन कृतात्मानः परमात्मस्वरूपेणैव निष्पन्नात्मानः सन्तो वीतरागाः वीतरागादिदोषाः प्रशान्ता उपरतेन्द्रियाः ।

इस आत्माको सम्यक् प्रकारसे प्राप्तकर—जानकर ऋषि अर्थात् आत्मदर्शनवान् लोग, शरीरको पुष्ट करनेवाले किसी बाह्य तृप्तिसाधनसे नहीं बल्कि उस ज्ञानसे ही तृप्त हो कृतात्मा—जिनका आत्मा परमात्मस्वरूपसे ही निष्पन्न हो गया है ऐसे होकर तथा वीतराग—रागादि दोषोंसे रहित और प्रशान्त यानी उपरतेन्द्रिय हो जाते हैं ।

त एवंभूताः सर्वगं सर्वव्यापिनमाकाशवत्सर्वतः सर्वत्र प्राप्य—नोपाधिपरिच्छिन्नेनैकदेशेन,

ऐसे भावको प्राप्त हुए वे लोग सर्वग—आकाशके समान सर्वव्यापक ब्रह्मको, उपाधिपरिच्छिन्न एक देशमें नहीं, बल्कि सर्वत्र

किं तर्हि ? तद्ब्रह्मैवाद्वयमात्मत्वेन प्रतिपद्य धीरा अत्यन्तविवेकिनो युक्तात्मानो नित्यसमाहितस्वभावाः सर्वमेव समस्तं शरीरपातकालेऽप्याविशन्ति भिन्ने घटे घटाकाशवदविद्याकृतोपाधिपरिच्छेदं जहति । एवं ब्रह्मविदो ब्रह्मधाम प्रविशन्ति ॥ ५ ॥

प्राप्त कर—फिर क्या होता है ? उस अद्वयब्रह्मको ही आत्मभावसे अनुभव कर, वे धीर यानी अत्यन्त विवेकी और युक्तात्मा—नित्य समाहितस्वभाव पुरुष शरीरपातके समय भी सर्वरूप ब्रह्ममें ही प्रवेश कर जाते हैं; अर्थात् घटके फूट जानेपर घटाकाशके समान वे अपने अविद्याजनित परिच्छेदका परित्याग कर देते हैं । इस प्रकार वे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मधाममें प्रवेश करते हैं ॥ ५ ॥

ज्ञातज्ञेयकी मोक्षप्राप्ति

किं च—

तथा—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥

जिन्होंने वेदान्तजनित विज्ञानसे ज्ञेय अर्थका अच्छी तरह निश्चय कर लिया है वे संन्यासयोगसे यत्न करनेवाले समस्त शुद्धचित्त पुरुष ब्रह्मलोकमें देह त्याग करते समय परम अमरभावको प्राप्त हो सब ओरसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः परमात्मा

वेदान्तसे उत्पन्न होनेवाला विज्ञान वेदान्तविज्ञान कहलाता है । उसका अर्थ यानी विज्ञेय परमात्मा

विज्ञेयः सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः। ते च संन्यासयोगात्सर्वकर्मपरित्यागलक्षणयोगात्केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगाद्यतयो यतनशीलाः शुद्धसत्त्वाः शुद्धं सत्त्वं येषां संन्यासयोगात्ते शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु—संसारिणां ये मरणकालास्तेऽपरान्तास्तानपेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्यागकालः परान्तकालस्तस्मिन्परान्तकाले साधकानां बहुत्वाद्ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवद् दृश्यते प्राप्यते वा, अतो बहुवचनं ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः—परामृताःपरममृतममरणधर्मकं ब्रह्मात्मभूतं येषां ते परामृता जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि समन्तात्प्रदीपनिर्वाणवद् घटा-

है। वह अर्थ जिन्हें अच्छी तरह निश्चित हो गया है वे 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थ' कहलाते हैं। वे संन्यासयोगसे—सर्वकर्मपरित्यागरूप योगसे अर्थात् केवल ब्रह्मनिष्ठास्वरूप योगसे यत्न करनेवाले और शुद्धसत्त्व—संन्यासयोगसे जिनका सत्त्व (चित्त) शुद्ध हो गया है ऐसे वे शुद्धचित्त पुरुष ब्रह्मलोकोंमें परामृत—परम अमृत यानी अमरणधर्मा ब्रह्म ही जिनका आत्मस्वरूप हैं ऐसे जीवित अवस्थामें ही परामृत यानी ब्रह्मभूत होकर दीपनिर्वाण अथवा [घटके फूटनेपर] घटाकाशके समान परिमुक्त यानी निवृत्तिको प्राप्त हो जाते हैं। वे सब परि अर्थात् सब ओरसे मुक्त हो जाते हैं। किसी अन्य गन्तव्य देशान्तरकी अपेक्षा नहीं करते। संसारी पुरुषोंके जो अन्तकाल होते हैं वे 'अपरान्तकाल' हैं उनकी अपेक्षा मुमुक्षुओंके संसारका अन्त हो जानेपर उनका जो देहपरित्यागका समय है वह 'परान्तकाल' है। उस परान्तकालमें वे ब्रह्मलोकोंमें—बहुत-से साधक होनेके कारण यहाँ

काशवच्च निवृत्तिमुपयान्ति । परिमुच्यन्ति परिसमन्तान्मुच्यन्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यम् अपेक्षन्ते ।

"शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च । पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः" (महा० शा० २३९ । २४) । "अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इति श्रुतिस्मृतिभ्यः ।

देशपरिच्छिन्ना हि गतिः संसारविषयैव परिच्छिन्नसाधनसाध्यत्वात् । ब्रह्म तु समस्तत्वान्न देशपरिच्छेदेन गन्तव्यम् । यदि हि देशपरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवम् अनित्यं कृतकं च स्यात् । न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति । अतस्तत्प्राप्तिश्च नैव देशपरिच्छिन्ना भवितुं युक्ता । अपि चाविद्यादि-

ब्रह्मलोक यानी ब्रह्मस्वरूप लोक एक होनेपर भी अनेकवत् देखा और प्राप्त किया जाता है । इसीलिये 'ब्रह्मलोकेषु' इस पदमें बहुवचनका प्रयोग हुआ है, अतः 'ब्रह्मलोकेषु'का अर्थ है ब्रह्ममें ।

"जिस प्रकार आकाशमें पक्षियोंके और जलमें जलचर जीवके पैर (चरण-चिह्न) दिखायी नहीं देते उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गति नहीं जानी जाती" "[मुमुक्षुलोग] संसारमार्गसे पार होनेकी इच्छासे अनध्वग (संसार-मार्गमें विचरण न करनेवाले) होते हैं ।" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे भी यही प्रमाणित होता है ।

परिच्छिन्न साधनसे साध्य होनेके कारण संसारसम्बन्धिनी गति देशपरिच्छिन्ना ही होती है । किन्तु ब्रह्म सर्वरूप होनेके कारण किसी देशपरिच्छेदसे प्राप्तव्य नहीं है । यदि ब्रह्म देशपरिच्छिन्न हो तो मूर्तद्रव्यके समान आदि-अन्तवान्, पराश्रित, सावयव, अनित्य और कृतक सिद्ध हो जायगा । किन्तु ब्रह्म ऐसा हो नहीं सकता । अतः उसकी प्राप्ति भी देशपरिच्छिन्ना नहीं हो सकती; इसके सिवा ब्रह्मवेत्ता लोग अविद्यादि-संसार-

संसारबन्धापनयनमेव मोक्षम् इच्छन्ति ब्रह्मविदो न तु कार्यभूतम् ॥ ६ ॥

बन्धनकी निवृत्तिरूप मोक्षकी ही इच्छा करते हैं, किसी कार्यभूत पदार्थकी नहीं ॥ ६ ॥

मोक्षका स्वरूप

किं च मोक्षकाले—

तथा मोक्षकालमें—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

[प्राणादि] पन्द्रह कलाएँ (देहारम्भक तत्त्व) अपने आश्रयोंमें स्थित हो जाती हैं, [चक्षु आदि इन्द्रियोंके अधिष्ठाता] समस्त देवगण अपने प्रतिदेवता [आदित्यादि] में लीन हो जाते हैं तथा उसके [सञ्चितादि] कर्म और विज्ञानमय आत्मा आदि सब-के-सब पर अव्यय देवमें एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

या देहारम्भिकाः कलाः प्राणाद्यास्ताः स्वां स्वां प्रतिष्ठां गताः स्वं स्वं कारणं गता भवन्तीत्यर्थः । प्रतिष्ठा इति द्वितीयाबहुवचनम् । पञ्चदश पञ्चदशसंख्याका या अन्त्यप्रश्नपरिपठिताः प्रसिद्धा देवाश्च देहाश्रयाश्चक्षुरादिकरणस्थाः सर्वे प्रतिदेवतास्वादित्यादिषु गता भवन्तीत्यर्थः ।

जो देहकी आरम्भ करनेवाली प्राणादि कलाएँ हैं वे अपनी प्रतिष्ठाको पहुँचती अर्थात् अपने-अपने कारणको प्राप्त हो जाती हैं । [इस मन्त्रमें] 'प्रतिष्ठाः' यह द्वितीया विभक्तिका बहुवचन है । पन्द्रह प्रसिद्ध कलाएँ जो [प्रश्नोपनिषद्के] अन्तिम (षष्ठ) प्रश्नमें पढ़ी गयी हैं तथा देहके आश्रित चक्षु आदि इन्द्रियोंमें स्थित समस्त देवता अपने प्रतिदेवता आदित्यादिमें लीन हो जाते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

यानि च मुमुक्षुणा कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि प्रवृत्तफलानामुपभोगेनैव क्षीयमाणत्वाद्विज्ञानमयश्चात्माविद्याकृतबुद्ध्याद्युपाधिमात्मत्वेन मत्वा जलादिषु सूर्यादिप्रतिबिम्बवदिह प्रविष्टो देहभेदेषु, कर्मणां तत्फलार्थत्वात्, सह तेनैव विज्ञानमयेनात्मना, अतो विज्ञानमयो विज्ञानप्रायः; त एते कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मोपाध्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशकल्पेऽजेऽजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्व एकीभवन्त्यविशेषतां गच्छन्ति एकत्वमापद्यन्ते जलाद्याधारापनय इव सूर्यादिप्रतिबिम्बाः सूर्ये घटाद्यपनय इवाकाशे घटाद्याकाशाः ॥ ७ ॥

तथा मुमुक्षुके किये हुए अप्रवृत्तफल कर्म—क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो जाते हैं वे उपभोगसे ही क्षीण होते हैं—और विज्ञानमय आत्मा, जो अविद्याजनित बुद्धि आदि उपाधिको आत्मभावसे मानकर जलादिमें सूर्यादिके प्रतिबिम्बके समान यहाँ देहभेदोंमें प्रविष्ट हो रहा है, उस विज्ञानमय आत्माके सहित [परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं], क्योंकि कर्म उस विज्ञानमय आत्माको ही फल देनेवाले हैं। अतः विज्ञानमयका अर्थ विज्ञानप्राय है। ऐसे वे [सञ्चितादि] कर्म और विज्ञानमय आत्मा सभी, उपाधिके निवृत्त हो जानेपर आकाशके समान, पर, अव्यय, अनन्त, अक्षय, अज, अजर, अमृत, अभय, अपूर्व, अनन्य, अनन्तर, अबाह्य, अद्वय, शिव और शान्त ब्रह्ममें एकरूप हो जाते हैं—अविशेषता अर्थात् एकताको प्राप्त हो जाते हैं, जिस प्रकार कि जल आदि आधारके हटा लिये जानेपर सूर्य आदिके प्रतिबिम्ब सूर्यमें तथा घटादिके निवृत्त होनेपर घटाकाशादि महाकाशमें मिल जाते हैं ॥ ७ ॥

ब्रह्मप्राप्तिमें नदी आदिका दृष्टान्त

किं च— | तथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

यथा नद्यो गङ्गाद्याः स्यन्दमाना गच्छन्त्यः समुद्रे समुद्रं प्राप्यास्तमदर्शनमविशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूपं च नामरूपे विहाय हित्वा तथाविद्याकृतनामरूपाद्विमुक्तः सन्विद्वान्परादक्षरात्पूर्वोक्तात्परं दिव्यं पुरुषं यथोक्तलक्षणमुपैति उपगच्छति ॥ ८ ॥

जिस प्रकार बहकर जाती हुई गङ्गा आदि नदियाँ समुद्रमें पहुँचनेपर अपने नाम और रूपको त्यागकर अस्त—अदर्शन यानी अविशेष भावको प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् अविद्याकृत नाम-रूपसे मुक्त हो पूर्वोक्त अक्षर (अव्याकृत) से भी पर उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट पुरुषको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही है

ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः प्रसिद्धा अतः क्लेशानामन्यतमेनान्येन वा देवादिना च विघ्नितो

शङ्का—कल्याणपथमें अनेकों विघ्न आया करते हैं—यह प्रसिद्ध है । अतः क्लेशोंमेंसे किसी-न-किसीके द्वारा अथवा किसी देवादिद्वारा

ब्रह्मविद्प्यन्यां गतिं मृतो गच्छति न ब्रह्मैव ।

विघ्न उपस्थित कर दिये जानेसे ब्रह्मवेत्ता भी मरनेपर किसी दूसरी गतिको प्राप्त हो जायगा—ब्रह्मको ही प्राप्त न होगा ।

न; विद्ययैव सर्वप्रतिबन्धस्यापनीतत्वात् । अविद्याप्रतिबन्धमात्रो हि मोक्षो नान्यप्रतिबन्धः, नित्यत्वादात्मभूतत्वाच्च । तस्मात्—

समाधान—नहीं, विद्यासे ही समस्त प्रतिबन्धोंके निवृत्त हो जानेके कारण [ऐसा नहीं होगा] । मोक्ष केवल अविद्यारूप प्रतिबन्धवाला ही है, और किसी प्रतिबन्धवाला नहीं है, क्योंकि वह नित्य और सबका आत्मस्वरूप है । इसलिये—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

जो कोई उस परब्रह्मको जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है । उसके कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता । वह शोकको तर जाता है, पापको पार कर लेता है और हृदयग्रन्थियोंसे विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

स यः कश्चिद्ध वै लोके तत्परमं ब्रह्म वेद साक्षादहमेवास्मीति स नान्यां गतिं गच्छति । देवैरपि तस्य ब्रह्मप्राप्तिं प्रति विघ्नो न शक्यते कर्तुम् । आत्मा ह्येषां स

इस लोकमें जो कोई उस परब्रह्मको जान लेता है—'वह साक्षात् मैं ही हूँ' ऐसा समझ लेता है, वह किसी अन्य गतिको प्राप्त नहीं होता । उसकी ब्रह्मप्राप्तिमें देवतालोग भी विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो उनका

भवति। तस्माद्ब्रह्मविद्वान्ब्रह्मैव भवति।

किं च नास्य विदुषोऽब्रह्मवित्कुले भवति। किं च तरति शोकमनेकेष्टवैकल्यनिमित्तं मानसं सन्तापं जीवन्नेवातिक्रान्तो भवति। तरति पाप्मानं धर्माधर्माख्यम्। गुहाग्रन्थिभ्यो हृदयाविद्याग्रन्थिभ्यो विमुक्तः सन्नमृतो भवतीत्युक्तमेव भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादि॥ ९॥

आत्मा ही हो जाता है। अतः ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है।

तथा इस विद्वान्‌के कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता और यह शोकको तर जाता है अर्थात् अनेकों इष्ट वस्तुओंके वियोगजनित सन्तापको जीवित रहते हुए ही पार कर लेता है तथा धर्माधर्मसंज्ञक पापसे भी परे हो जाता है। फिर हृदयग्रन्थियोंसे विमुक्त हो अमृत हो जाता है, जैसा कि 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि मन्त्रोंमें कहा ही है॥ ९॥

विद्याप्रदानकी विधि

अथेदानीं ब्रह्मविद्यासम्प्रदानविध्युपप्रदर्शनेनोपसंहारः क्रियते।

तदनन्तर अब ब्रह्मविद्याप्रदानकी विधिका प्रदर्शन करते हुए [इस ग्रन्थका] उपसंहार किया जाता है—

तदेतदृचाभ्युक्तम्—

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ १०॥

यही बात [आगेकी] ऋचाने भी कही है—जो अधिकारी क्रियावान् श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ और स्वयं श्रद्धापूर्वक एकर्षिनामक अग्निमें हवन करनेवाले हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उन्हींसे यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये ॥ १० ॥

तदेतद्विद्यासम्प्रदानविधानमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तमभिप्रकाशितम्—

यह विद्यासम्प्रदानकी विधि [आगेकी] ऋचा यानी मन्त्रने भी प्रकाशित की है—

क्रियावन्तो यथोक्तकर्मानुष्ठानयुक्ताः, श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा अपरस्मिन्ब्रह्मण्यभियुक्ताः परब्रह्मबुभुत्सवः स्वयमेकर्षिनामानमग्निं जुह्वते जुह्वति श्रद्धयन्तः श्रद्दधानाः सन्तो ये तेषाम् एव संस्कृतात्मनां पात्रभूतानाम् एतां ब्रह्मविद्यां वदेत ब्रूयात् शिरोव्रतं शिरस्यग्निधारणलक्षणम्, यथाथर्वणानां वेदव्रतं प्रसिद्धम्, यैस्तु यैश्च तच्चीर्णं विधिवद्यथाविधानं तेषामेव च ॥ १० ॥

जो क्रियावान्—जैसा ऊपर बतलाया गया है वैसे कर्मानुष्ठानमें लगे हुए, श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ यानी अपरब्रह्ममें लगे हुए और परब्रह्मको जाननेके इच्छुक तथा स्वयं श्रद्धायुक्त होकर एकर्षि नामक अग्निमें हवन करनेवाले हैं उन्हीं शुद्धचित्त एवं ब्रह्मविद्याके पात्रभूत अधिकारियोंको यह ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिये, जिन्होंने कि शिरपर अग्नि धारण करनारूप शिरोव्रतका—जैसा कि अथर्ववेदियोंका वेदव्रत प्रसिद्ध है—विधिवत्—शास्त्रोक्त विधिके अनुसार अनुष्ठान किया है, उन्हींसे यह विद्या कहनी चाहिये ॥ १० ॥

उपसंहार

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतो-ऽधीते । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ ॥

उस इस सत्यका पूर्वकालमें अङ्गिरा ऋषिने [शौनकजीको] उपदेश किया था । जिसने शिरोव्रतका अनुष्ठान नहीं किया वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता । परमर्षियोंको नमस्कार है, परमर्षियोंको नमस्कार है ॥ ११ ॥

तदेतदक्षरं पुरुषं सत्यमृषिरङ्गिरा नाम पुरा पूर्वं शौनकाय विधिवदुपसन्नाय पृष्टवत उवाच । तद्वदन्योऽपि तथैव श्रेयोऽर्थिने मुमुक्षवे मोक्षार्थं विधिवदुपसन्नाय ब्रूयादित्यर्थः । नैतद्ग्रन्थरूपम् अचीर्णव्रतोऽचरितव्रतोऽप्यधीते न पठति । चीर्णव्रतस्य हि विद्या फलाय संस्कृता भवतीति ।

उस इस अक्षर पुरुष सत्यको अंगिरानामक ऋषिने पूर्वकालमें अपने समीप विधिपूर्वक आये हुए प्रश्नकर्ता शौनकजीसे कहा था । उनके समान अन्य किसी गुरुको भी उसी प्रकार अपने समीप विधिपूर्वक आये हुए कल्याणकामी मुमुक्षुपुरुषको उसके मोक्षके लिये इसका उपदेश करना चाहिये—यह इसका तात्पर्य है । इस ग्रन्थरूप उपदेशका अचीर्णव्रत पुरुष—जिसने कि शिरोव्रतका आचरण न किया हो—अध्ययन नहीं कर सकता, क्योंकि जिसने उस व्रतका आचरण किया होता है उसीको विद्या संस्कारसम्पन्न होकर फलवती होती है ।

समाप्ता ब्रह्मविद्या, सा येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः पारम्पर्यक्रमेण संप्राप्ता तेभ्यो नमः परमऋषिभ्यः परमं ब्रह्म साक्षाद्दृष्टवन्तो ये ब्रह्मादयोऽवगतवन्तश्च ते परमर्षयस्तेभ्यो भूयोऽपि नमः। द्विर्वचनमत्यादरार्थं मुण्डकसमाप्त्यर्थं च ॥ ११ ॥

यहाँ ब्रह्मविद्या समाप्त हुई। वह जिन ब्रह्मा आदिसे परम्पराक्रमसे प्राप्त हुई है उन परमर्षियोंको नमस्कार है। जिन्होंने परब्रह्मका साक्षात् दर्शन किया है और उसका बोध प्राप्त किया है वे ब्रह्मा आदि परम ऋषि हैं; उन्हें फिर भी नमस्कार है। यहाँ 'नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः' यह द्विरुक्ति ऋषियोंके अधिक आदर और मुण्डककी समाप्तिके लिये है ॥११॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये तृतीयमुण्डके

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्तमिदं तृतीयं मुण्डकम्।

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावाथर्वणमुण्डकोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥
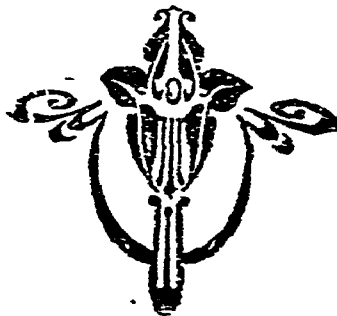
शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा

भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि-

र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः

स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्ताक्ष्योऽरिष्टनेमिः

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका